स्वाध्यायमञ्जरी का तृतीय पुष्प

वैदिक-विनय

(प्रथम खण्ड)

ले०—'अभय' विद्यालङ्कार

संवत् १९८८ की भेंट

परसोसां — پرسیاوشاں ۳ ماشہ
बीदाना — بیدانہ ۳ ماشہ
गावजबां — گاؤزبان ۳ ماشہ
उनाब — عناب ۵ دانہ
लसूड़यां — لسوڑیاں ۱۱ دانہ
बनफ्शां — بنفشہ ۵ ماشہ
सौंफ — سونف ۳ ماشہ

स्वाध्यायमञ्जरी का तृतीय पुष्प

वैदिक-विनय

(प्रथम खण्ड)

लेखक—
पं० देवशर्मा 'अभय' विद्यालङ्कार

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी की ओर से
संवत् १९८८ के लिए सप्रेम भेंट

खरीदनेवाले सज्जनों के लिए—

सजिल्द सवा रुपया] [सादी एक रुपया

प्रकाशक—
श्री पंडित चमूपतिजी
मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी
हरिद्वार (सहारनपुर)

प्रथम संस्करण . . . चैत्र १९८८ . . . १२००
द्वितीय संस्करण . . . चैत्र १९८९ . . . १०००

मुद्रक—
श्री देवचन्द्र विशारद
हिन्दी भवन प्रेस,
लाहौर

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि
के
सदस्यों की सेवा में

प्रिय महोदय,

सम्वत् १९८८ की यह भेंट आपके सामने प्रस्तुत है। यह कितनी मूल्यवान्, कितनी ज्ञान-रत्नों से पूर्ण भेंट है यह आपही स्वयं देख लेंगे। मुझे तो आप भाइयों से यही प्रर्थना करनी है कि आप अपने गुरुकुल की इस प्रेमपूर्ण भेंट को पूरे हृदय से स्वीकार कर लीजिये। इसका मतलब यह है कि आप इस पुस्तक को पाकर प्रतिदिन वैदिक स्वाध्याय कीजिये और सुयोग्य लेखक की आशा के अनुसार अपनी आत्मोन्नति का नित्य भोजन ग्रहण कीजिये।

यद्यपि 'वैदिक-विनय' का तीसरा खण्ड तो अग्रिमवर्ष ही आपके हाथों में पहुँच सकेगा, तो भी प्रथम खण्ड के इस द्वितीय संस्करण के साथ वैदिक विनय का द्वितीय खण्ड भी छप कर तैयार हो गया है। इसलिये मेरी प्रार्थना है कि इसके द्वितीय खण्ड को भी आप तुरन्त मंगालीजिये और इन दोनों खण्डों के आठ महीने के मंत्रों का इस प्रकार पारायण करते रहिये कि वर्ष भर में आपका एक भी दिन इस वैदिक स्वाध्याय के बिना न जावे। यही इस गुरुकुलीय भेंट की सच्ची स्वीकृति है।

मुख्याधिष्ठाता
गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी
१-१०-८९

विषय-सूची

पृष्ठ

प्रारम्भिक वचन ... ... क

वसन्त ऋतु—

१. चैत्र मास ५

२. वैशाख मास ६९

ग्रीष्म ऋतु—

१. ज्येष्ठ १३९

२. आषाढ़ २१३

अनुक्रमणिका २९९

प्रारम्भिक वचन

१. अनुकूल संयोग

कानपुर का जेल ठीक गंगा के तट पर बना हुवा है। गतवर्ष (संवत् १९८७) के शीतकाल के ६ महीने भर मुझे इसी 'कृष्ण मन्दिर' में रहने का सौभाग्य रहा है। सौभाग्य इसलिये कहता हूँ क्योंकि यहाँ रहते हुवे, जेल का स्वाभाविक कठोर जीवन बिताते हुवे और जेल के स्वाभाविक एकान्त का सेवन करते हुवे मैं सदा यही अनुभव करता रहा कि मैं इस गंगा-तट की तपोभूमि में तप करने आया हुवा हूँ, परमात्मा ने मुझे यहाँ इसीलिये भेजा है। और इस अनुकूल स्थिति में जब एक दिन, मेरे पैरों में महीने भर के लिये बेड़ियाँ देनेवाले मेरे कानपुर-जेल के खान बहादुर जेलर साहिब ने तथा सुपरिन्टेन्डेन्ट 'करनल ओनील' साहिब ने मेरे हाथों में लेखन-सामग्री भी दे दी, तब उन्होंने मुझ पर जो कृपा की उसके लिये मैं उन दोनों का सदा कृतज्ञ रहूँगा। क्योंकि इसी का परिणाम यह 'वैदिक-विनय' पुस्तक है। ऐसी एक प्रार्थना-पुस्तक, जिसमें वर्ष के प्रत्येक दिन के लिये एक वैदिक प्रार्थना हो, लिखने का संकल्प तो चार-पाँच वर्ष से था। तब से था, जब से कि पंजाब आर्य-प्रतिनिधि-सभा की अन्तरङ्ग सभा ने ऐसी एक पुस्तक निर्माण करने की आवश्यकता अनुभव की थी और उसकी रचना के लिये मुझे कहा गया था। परन्तु अब कानपुर जेल में दो महीने तक यत्न करने के पश्चात् जब मुझे जेल में कुछ लिख सकने की अनुमति मिली और मुझे लेखन-सामग्री दी गई तो, चूँकि तब तक सहारनपुर-जेल में लिखना प्रारम्भ की गई 'अग्निहोत्र

रहस्य' नामक पुस्तक के कागज़ात मुझे वापिस नहीं किये गये थे और न किये जाने की आशा थी, इसलिये तब मैंने अपने ऐसी प्रार्थना-पुस्तक लिखने के ही संकल्प को पूरा कर डालने का निश्चय कर लिया। और इस '१६ नम्बर की बैरक' में रहते हुवे ही अगले चार महीनों में इस वैदिक-विनय का आधे से अधिक भाग लिख भी डाला अर्थात् वर्ष भर के सम्पूर्ण मन्त्रों का संग्रह कर लिया तथा लगभग ६ महीने तक के मन्त्रों का अर्थ-लेखन भी समाप्त कर लिया।

२. तैयारी

पाठकों को यह विदित होना ही चाहिये कि ये वैदिक-विनय (प्रार्थनायें) आपके लेखक ने कितने यत्न और कितने प्रेम से तैयार की हैं।

इसके लिये पहले तो अर्थों पर दृष्टि रखते हुवे और अर्थ-चिन्तन करते हुवे चारों वेदों का एक बार पाठ किया गया है और इस तरह ३६९ वेदमन्त्रों का उनके छन्दों के अनुसार चुनाव तथा संग्रह किया गया है। और अर्थ लिखना प्रारम्भ करने से पूर्व यास्क के सम्पूर्ण निरुक्त का दो बार अच्छी तरह बड़े ध्यान से अध्ययन किया गया है। लेखक का विश्वास है कि तपस्या तथा अध्ययन की कमी, पूर्व आग्रह व पक्षपात अथवा जल्दबाजी आदि किन्हीं भी कारणों से वेद-मन्त्रों का अशुद्ध अर्थ किया जाना पाप करना है, इसलिये मन्त्र का सत्य अर्थ पाने के लिये उसने अपनी शक्ति भर पूरा पूरा प्रयत्न किया है। जिस मन्त्र का अर्थ लिखना हो उसे पहिले कण्ठाग्र करके उसका चलते-फिरते देर तक मनन किया गया है। मन्त्र को कण्ठाग्र करके उसे बार बार मन में पढ़ते, बोलते और गाते हुवे सो जाना तथा अगले दिन प्रातःकाल अपने नित्य के सन्ध्या, भजन और अग्निहोत्र कर

लेने के बाद उसका अर्थ लिखना, बहुत बार यह क्रम रखा गया है। जब तक कि अर्थ इतना स्पष्ट नहीं हो गया कि अपना मन सन्तुष्ट हो जाय तब तक अर्थ नहीं लिखा गया। कई बार सन्देह रह जाने के कारण अर्थ लिखना स्थगित भी कर दिया गया है। अपनी तरफ़ से निःसंशय कहा जा सकता है कि मन्त्र के वास्तविक अभिप्राय को जान लेने के लिये यथाशक्ति विकारशून्य और निर्मल मन से पहुँच की गई है तथा इन मन्त्रों में से एक एक मन्त्र का अर्थ सर्वप्रेरक प्रभु से सच्चे अर्थ का प्रकाश पाने की प्रार्थना करके, मानसिक पवित्रता की अवस्था लाकर ही लिखा गया है। इसलिये पाठकों से भी प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे भी यदि ऐसे ही कुछ निर्मल भाव से इन प्रार्थनाओं का पाठ करेंगे, इनका स्वाध्याय व मनन करेंगे तो अच्छा होगा।

३. पाठ की विधि

लेखक की इच्छा है—स्वाध्यायप्रेमी पाठकों के पास न जाने इतना समय होगा कि नहीं, किन्तु लेखक की इच्छा है—कि पाठक निम्न प्रकार से इन मन्त्रों का स्वाध्याय करें।

१. स्वाध्याय प्रतिदिन किया जाय, इसमें कभी नागा न किया जाय।

प्रत्येक मन्त्र के ऊपर तिथियां इसलिये नहीं लिखी गई हैं कि उन तिथियों के दिन ही उन मन्त्रों के पढ़ने का कुछ माहात्म्य है, किन्तु इसलिये लिखी गई हैं कि पाठक प्रत्येक दिन जरूर एक न एक वैदिक प्रार्थना में से गुज़र जाया करें। स्वाध्याय में एक दिन भी नागा न हो; स्वाध्याय लगातार प्रतिदिन जारी रहे; यह तो सब से पहिला प्रयोजन है जिसके लिये कि यह प्रार्थना-पुस्तक रची गई है।

२. यदि सम्भव हो तो स्वाध्याय के मन्त्र को पहिले दिन कण्ठाग्र कर लिया जाय। पहिले दिन का सन्ध्या-समय इस कार्य के लिये अच्छा रहेगा।

लेखक का अभिप्राय यह है कि पाठक वेदमन्त्रों द्वारा (वेद-मन्त्रों के शब्दों में) प्रार्थना करने के अभ्यासी होवें। वेद में प्रायः सब उपदेश व ज्ञान प्रार्थना रूप में ही कहे गये हैं। अतः लेखक की समझ में किसी समय वेद के प्रचार होने का यही अर्थ है कि उस समय के लोग वेदमन्त्रों द्वारा प्रार्थना कर सकें; वेदमन्त्रों के सहारे अपने संकल्प-बल को संगृहीत करने और उस का सफल प्रयोग करने में समर्थ हो सकें। अतः हम वेद का प्रचार चाहनेवालों को समाज में यह अवस्था लानी ही चाहिये कि लोग वेद के शब्दों में ही ईश्वर-स्तुति कर सकें। अस्तु। तात्पर्य यह है कि यदि पाठकों ने मन्त्र कण्ठस्थ कर रखा होगा तभी वे वेदमन्त्रों के शब्दों में प्रार्थना कर सकने में सफल होंगे। यदि उन्होंने मन्त्र पहिले से कण्ठस्थ कर रखा होगा तो इस से उस मन्त्र का आशय समझने में और उसके आशय का आनन्द लेने में अर्थात् ठीक तरह स्वाध्याय करने में उन्हें बड़ी सहायता मिलेगी।

३. अगले दिन प्रातःकाल अपने स्वाध्याय के समय में पुस्तक द्वारा वह वेदमन्त्र पढ़कर तथा उसकी विनय पढ़कर स्वाध्याय करना चाहिये।

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यह दैनिक स्वाध्याय जहां तक हो सके पति-पत्नी तथा अन्य सब परिवार के सदस्य मिलकर किया करें। यदि उस परिवार में अग्निहोत्र भी हुवा करता हो तो यह प्रतिदिन का स्वाध्याय अग्निहोत्र के बाद अग्निकुण्ड के चारों तरफ़

बैठकर ही करना चाहिये। एक पढ़ता जावे तथा दूसरे उसे सुनें। इस प्रकार परस्पर अर्थ समझने-समझाने में भी सहायता प्राप्त होती रहेगी।

४. विनय-पाठ कर लेने के अनन्तर मन्त्र के शब्दार्थ को ध्यान-पूर्वक पढ़ना चाहिये। शब्दार्थ देख लेने द्वारा यह अच्छी तरह देख लेना—समझ लेना—चाहिये कि मन्त्र के इन थोड़े से शब्दों में किस तरह पूर्वपठित विनय का सम्पूर्ण भाव आया हुवा है।

विनय में विस्तार से दिखलाये हुवे सब विचारों और भावों को अन्त में हम मन्त्र-शब्दों में रखे हुवे पा लेवें इसीलिये इस पुस्तक में शब्दार्थ विनय के पीछे दिखाये गये हैं। बहुत सम्भव है कि इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये पाठकों को फिर एक दो बार मन में विनय को पढ़ लेना पड़ा करेगा, कम से कम एक बार तो विनय को फिर पढ़ ही लेना चाहिये; तभी मन्त्र का अर्थ स्पष्ट होगा।

विनय के शब्द बड़े यत्न से इस ढंग से लिखे गये हैं कि पाठकों के लिये मन्त्र के सब शब्दों का अर्थ और उनका पूरा पूरा अभिप्राय इसकी प्रार्थनामय भाषा में ही अच्छी तरह खुल जाय। विनय के शब्दों द्वारा प्रार्थना भी की गई है और मन्त्र के एक एक शब्द का अर्थ और अभिप्राय भी स्पष्ट किया गया है। यद्यपि इन विनयों की रचना में अनेक जगह इसके प्रार्थनारूप को और इसकी भाषा को भी बिगड़ जाने दिया गया है परन्तु मन्त्र के शब्दों का अर्थ तथा उनका पूरा आशय इन दोनों का स्पष्टीकरण ठीक हो जाय इस असली उद्देश्य को कहीं भी नहीं भूलने दिया गया है। अतः पाठकों को उचित है कि चाहे उन्हें विनय के शब्द कई बार देखने पड़ें पर वे तब तक स्वाध्याय को समाप्त न करें जब तक कि वे मन्त्र के आशय को मन्त्र के शब्दों में पूरी तरह न देख लेवें। और ऐसा कर लेने के बाद—

५. उस मन्त्र को—केवल वेदमन्त्र को—बार बार आनन्द से गा गा कर पढ़ें, कम से कम सात बार ज़रूर दोहरावें, और मन्त्रार्थ को इतनी अच्छी तरह अनुभव करते हुवे यह मन्त्रगान करें कि मानों वह वेदमन्त्र हमारे ही हृदय से निकल रहा है—हम ही उस मन्त्र के ऋषि हैं। विनय में प्रदर्शित वे सब भाव, भावावेश और भक्ति आदि रस उस समय मन में पूरी तरह उठ रहे हों।

हमने यदि वेदमन्त्र के आशय को पूरी तरह ले लिया होगा तो इसकी पहिचान ही यह है कि तब हमारा स्वयं जी करेगा कि हम उस वेदमन्त्र को बार बार पढ़ें, गावें, गाते जावें। मन्त्र के बार बार दोहराने में हमें बड़ा आनन्द मिलेगा।

आर्यसमाज में भक्ति के बढ़ाने की बड़ी आवश्यकता है। वेद-वर्णित भगवद्भक्ति का प्रसार करने के लिये—इस दिशा में कुछ तुच्छ सेवा कर सकने के लिये—ही यह पुस्तक लिखी गई है। सच तो यह है कि लेखक को स्वयं इस पुस्तक के मन्त्रों का मनन करते समय बड़ा आनन्द मिला है। उसे ये अपने '१६ नम्बर की बैरक' के उच्च सात्विक सुख के दिन कभी न भूलेंगे। उन दिनों इन मन्त्रों का अर्थ जानने के लिये मन्त्रों का विचार और मनन करते करते मन मग्न हो जाया करता था। मग्न होकर इन मन्त्रों को गाते हुवे मानसिक स्थिति उस समय के लिये एकदम ऊँची उठ जाती थी। अतः यदि अन्य भी किन्हीं सहृदय भाइयों को इन वेदमन्त्रों का स्वाध्याय उनकी आत्माको ऊँचा कर देनेवाला हो, उन्हें भक्ति प्रेमरस से नहला देनेवाला हो, तो क्या ही अच्छा हो। असल में इसी आशा से और इसी प्रार्थना के साथ, लेखक ने यह संग्रह प्रकाशित करवाने

की—छपवा कर कुछ स्थिर कर रखने की—इच्छा की है। क्या कहीं यह आशा और यह प्रार्थना सुनी जावेगी ?

४. छन्द

ऊपर मन्त्रों के गाने का वर्णन आया है। यद्यपि लेखक को स्वर तथा गान विद्या के विषय में कुछ ज्ञान नहीं है, तो भी इस संग्रह में छन्दों का ध्यान रखा है। इस पुस्तक के उस उस ऋतु के सब मन्त्र उस उस ऋतु के अनुकूल छन्दों में ही संगृहीत किये गये हैं। निरुक्त के दैवतकाण्ड में ऋतुओं के साथ छन्दों का सम्बन्ध निम्न प्रकार कहा है—

१......वसन्तो गायत्री त्रिवृत्स्तोमो रथन्तरं साम।
निo दैवत ७.३.१॥

२......ग्रीष्मः त्रिष्टुप् पंचदशस्तोमो बृहत्साम.....॥
निo दैo ७.३.३॥

३......वर्षा जगती सप्तदशस्तोमो वैरूपं साम.....॥
निo दैo ७.३.४॥

४......शरदनुष्टुप् एकविंशस्तोमो वैराजं साम......
५......हेमन्तः पंक्तिः त्रिणवस्तोमः शाक्वरं साम इति॥
६......शिशिरोऽतिच्छन्दाः त्रयस्त्रिंशो सोमो रैवतं साम॥
निo दैo ७.३.५॥

स्वयं वेद में भी कई जगह ऋतुओं के साथ छन्दों का यही सम्बन्ध वर्णित है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र देखिये—

१—अयं पुरो...वसन्तः प्राणायनो गायत्री वासन्ती...।
यo १३.५४॥

२—अयं दक्षिणा...ग्रीष्मो मानसःत्रिष्टुप् ग्रैष्मी......।
य० १३.५५॥

३—अयं पश्चात्.......वर्षाः चाक्षुष्यो जगती वार्षी.......।
यजु० १३.५६॥

४—इदमुत्तरात्......शरत् श्रोत्र्यनुष्टुप् शारदी......।
यजु० १३.५७॥

५—इदमुपरि......हेमन्तो वाच्यः पंक्तिर्हैमन्ती......॥
यजु०१३.५८॥

इन मन्त्रों में तथा निरुक्त वचन में एक ही समान ऋतुओं और छन्दों का सम्बन्ध कहा है। अन्तर केवल इतना है कि निरुक्त में छठी ऋतु के साथ 'अतिच्छन्दा' छन्द कहा है और वेद वाक्य में पांच ऋतुओं का ही वर्णन है। इसलिये हमने भी वसन्तादि पहिली पाँच ऋतुओं में तो क्रमशः गायत्री आदि पाँच छन्दों का ही क्रम रखा है परन्तु छठी (शिशिर) ऋतु को विविध छन्दोंवाला बना दिया है। निम्न कोष्ठक देखिये—

ऋतु	छन्द	पद	अक्षर	कुल अक्षर
वसन्त	गायत्री	३	८	२४
ग्रीष्म	त्रिष्टुप	४	११	४४
वर्षा	जगती	४	१२	४८
शरद्	अनुष्टुप	४	८	३२
हेमन्त	पंक्ति	४ ५	१० ८	४०
शिशिर	विविध	..	..	..

५. सौर वर्ष

इस पुस्तक की दैनंदिनी (Diary) के लिये 'सौर वर्ष' चुना गया है—अर्थात् सूर्य की एक राशि से दूसरी राशि में संक्रान्ति से जो महीने बनते हैं उन बारह महीनों का वर्ष गिना गया है। यद्यपि हमारे देश में कई कार्यों में चान्द्रतिथियों का भी उपयोग बहुतायत से होता है, परन्तु चूँकि चान्द्र महीनों की तिथियाँ नियत नहीं होती हैं, बिना किसी क्रम के कभी द्विगुणित और कभी लुप्त होती रहती हैं, इसलिये उन तिथियों के अनुसार प्रतिदिन के स्वाध्याय की पुस्तक को चलाना किसी तरह व्यवहार्य्य नहीं हो सकता। अतः सौरतिथियों के अनुसार यह पुस्तक चलाई गई है। यद्यपि अभी तक देश में प्रचलित सौरतिथियों के अनुसार भी प्रतिवर्ष प्रत्येक मास में निश्चित दिन नहीं होते हैं (जैसे कि पाश्चात्य जनवरी, फरवरी आदि महीनों में होते हैं), पर सौरमहीनों की इस त्रुटि को काशी के ज्ञानमण्डल से प्रकाशित होनेवाले 'पंचाङ्ग' और 'सौर रोज़नामचे' में जिस तरह दूर किया गया है, उससे सब समस्या हल हो जाती है।

उन्होंने प्रत्येक राशि व सौरमास के दिन नियत कर दिये हैं और प्रत्येक मास की घटती-बढ़ती को अगले मास से मिला कर पूर्णाङ्क कर दिये हैं। इस तरह सौरतिथियों की एकता सारे देश में (और संसार में) हो सकती है। और यदि हमें यह अभीष्ट हो कि सौर तिथियों का चलन हो जाय तो इन तिथियों को व्यवहार्य्य बनाने के लिये यह करना पड़ेगा। अस्तु। इस पुस्तक में लेखक ने इसी के अनुसार प्रत्येक मास के दिन निश्चित कर दिये हैं। प्रत्येक सौरमास में ये नियत दिन कितने कितने होते हैं यह याद रखने के लिये पाठक निम्न दोहा याद कर सकते हैं—

मार्ग पौष उनतीस के, का मा फा चै तीस।
आ बत्तीस, फा चौथ सन, औ बाकी इकतीस ॥

[मार्गशीर्ष और पौष २९ दिन के होते हैं; कार्तिक, माघ, फाल्गुन और चैत्र ३० दिन के होते हैं। आषाढ़ महीना बत्तीस दिन का होता है। और चौथे साल में फाल्गुन महीना तथा शेष सब महीने (अर्थात् वैशाख, ज्येष्ठ, श्रावण, भाद्रपद और आश्विन) ३१ दिन के होते हैं]।

यद्यपि पंजाब, बङ्गाल, गढ़वाल आदि प्रदेशों में सौरतिथियों का चलन है पर उनमें संक्रमण काल के मान में भेद रहने के कारण जो एक दो दिन का अन्तर रहता है वह इस ज्ञान-मण्डल के 'पचाङ्ग' की विधि से हट जाता है।

यद्यपि सौरवर्ष वैशाखमास से प्रारम्भ होता है, पर इस पुस्तक में यह चैत्रमास से प्रारम्भ कर दिया गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमने पूर्वोल्लिखित ऋतुक्रम ठीक रखना था और प्रथम ऋतु वसन्त ऋतु ही होनी चाहिये, इसलिये चैत्रमास को भी वैशाख मास के साथ जुड़ा रखना आवश्यक समझा गया।

आशा है इस पुस्तक द्वारा सौरतिथियों के व्यापी प्रचार में भी यह ज़रा सी अप्रत्यक्ष सहायता मिलेगी।

६. ऋतुचर्या

प्रत्येक ऋतु के स्वाध्यायमन्त्रों का प्रारम्भ करने से पूर्व इस पुस्तक में यह बात भी दिखला दी गई है कि आयुर्वेद के ग्रन्थों के अनुसार उस ऋतु में कैसी चर्या रखनी चाहिये, उस ऋतु में क्या पथ्य है और क्या अपथ्य। परन्तु इन ऋतुचर्याओं के अनुसार आचरण करनेवालों का ध्यान एक बात की तरफ़ आकृष्ट कर देना

उचित है। वह यह है कि ऋतुचर्या दिखाते हुवे प्रारम्भ में उस ऋतु के जो लक्षण दिये हैं वे लक्षण जिन दिनों में घटते हों उन्हीं दिनों के लिये वह ऋतुचर्या है। इसीलिये प्रत्येक ऋतुचर्या के प्रारम्भ में उस ऋतु के लक्षण भी लिख दिये गये हैं। तात्पर्य यह है कि वसन्त महीनों (चैत्र, वैशाख) में यदि ये वसन्त के लक्षण न हों तो तब तक यह चर्या नहीं करनी चाहिये अथवा यदि ये लक्षण फाल्गुन में ही प्रकट हों तो तभी से यह वसन्तचर्या करनी चाहिये। अर्थात् इन ऋतुचर्याओं को किन्हीं निश्चित महीनों के लिये नहीं समझना चाहिये किन्तु जिन भी किन्हीं दिनों उस ऋतुके लक्षण प्रकट हों तो तभी उस ऋतुचर्या का अनुसरण करना चाहिये। सुश्रुत महाराज ने तो प्रत्येक अहोरात्र में भी छःओं ऋतुयें मानी हैं; जैसे प्रातः काल वसन्त, मध्यान्ह ग्रीष्म, सायं वर्षा इत्यादि। दूसरी ध्यान रखने योग्य बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को बहुत बार ऋतु से भी अधिक अपनी निजी प्रकृति का ध्यान रखने की आवश्यकता होगी,। अतः (उदाहरणार्थ) पित्त प्रकृतिवाले को चाहिये कि वह वसन्त और वर्षा में भी पित्तकारक वस्तुओं से सावधान रहे। अस्तु।

प्रत्येक महीने में क्या वस्तु निषिद्ध है, त्याज्य है, यह जो प्रत्येक ऋतुचर्या के अन्त में उसके दोनों महीनों के सम्बन्ध में उल्लेख किया गया हैं वह जिस हिन्दी कहावत के अनुसार है वह निम्न लिखित है—

चैते गुड़, वैसाखे तेल।
जेठे पन्थ, असाढ़े बेल॥
सावन दूध (साग), न भादों मही।
असौज करेला, न कातिक दही॥

मगसिर जीरा, पूसे धना।
माघे मिसरी, न फागुने चना।

७. बारह सौर महीने या बारह आदित्य

सौर वर्ष के पक्ष में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सौर बारह महीने ही प्रसिद्ध तैंतीस देवताओं में से बारह आदित्य देवता हैं। ये देवता क्यों हैं यह बात पाठकों को विदित होना आवश्यक है; क्योंकि यह समझा कर पाठकों को मैं यह भी कुछ निर्देश कर सकूँगा कि प्रत्येक मास के लिये जो मैंने एक एक प्राणायामपूर्वक व्यायाम लिखी है उसका उस उस महीने से क्या सम्बन्ध है।

यद्यपि आदित्य (सूर्य) पृथ्वी के चारों तरफ़ घूमता नहीं है तो भी वर्षभर में जो पृथ्वी उसका एक चक्कर पूरा करती है उससे आदित्य ही हमें आकाश में एक गोलाकार चक्र में वर्षभर घूमता प्रतीत होता है। यह सूर्यमार्ग "ज्योतिर्मण्डल" या "राशिचक्र" कहलाता है। इस मार्ग के बारह भाग किये गये हैं, और इस में दीखनेवाले आकाश के बारह नक्षत्र समूहों के कारण ये भाग ही बारह (मीन, मेष, वृष आदि) राशि कहलाते हैं। एक (जैसे मीन) राशि में जब तक सूर्य रहता है तब तक एक (जैसे चैत्र) सौरमहीना रहता है। जब इस राशि से संक्रान्त कर सूर्य दूसरी राशि (जैसे मेष) में आता है तो दूसरा (जैसे वैशाख) सौर महीना हो जाता है। अब यहाँ वह बात देखिये जिसके कारण कि ये बारह सौरमहीने बारह आदित्य देवता कहलाते हैं। आदित्य तो बेशक इस बारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है परन्तु तो भी पृथ्वी के आदित्य के चारों तरफ़ घूमने के कारण आदित्य का प्राण (जीवनशक्ति प्रकाश आदि) हम पृथ्वीवासियों को इन राशियों से चिह्नित भिन्न

भिन्न बारह विभागों में से गुज़र कर पहुँचता है, अतः यह भिन्न भिन्न बारह प्रकार का प्रभाव रखता है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण ही एक आदित्य बारह प्रकार का आदित्य हो जाता है। इसीलिये ये बारह महीने बारह आदित्य कहलाते हैं, द्युस्थानीय बारह आदित्यदेव कहलाते हैं।

देवताओं में आदित्य सर्वोच्च देवता है। शरीर में जैसे जीवात्मा है वैसे इस सौर-मण्डल का आत्मा आदित्य है। यह बात निरुक्त के परिशिष्ट में अच्छी तरह स्पष्ट की गयी है। वेद में स्पष्ट कहा है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।"

ऋ० १.११५.१॥

"सब स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा सूर्य है" यह इस सूर्यदेवताक मन्त्र का आधिदैविक अर्थ है।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

प्रश्नोपनिषद् १.८॥

"सब प्राणियों का, सब उत्पन्न वस्तुओं का, प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है।" प्रश्नोपनिषद में यह मन्त्र ऋग्वेद का वचन कहकर उपदेश किया गया है। वास्तव में इस संसार के सब प्रकार के जीवन का, सब प्रकार की चेष्टा, गति व क्रिया का तथा सब प्रकार की शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है। भौतिक विद्या के ज्ञाता भी प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बक आदि सब बलों का तथा वनस्पति, पशु, मनुष्यों में रूपान्तरित सब बलों का भी आधार आदित्य को ही मानते हैं। पर आदित्य का यह प्राण ही हमें देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदों से भिन्न भिन्न प्रकार का मिलता है और यही प्राण के प्रकार का

मगसिर ज़ीरा, पूसे धना।
माघे मिसरी, न फागुने चना।

७. बारह सौर महीने या बारह आदित्य

सौर वर्ष के पक्ष में मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि सौर बारह महीने ही प्रसिद्ध तैंतीस देवताओं में से बारह आदित्य देवता हैं। ये देवता क्यों हैं यह बात पाठकों को विदित होना आवश्यक है; क्योंकि यह समझा कर पाठकों को मैं यह भी कुछ निर्देश कर सकूँगा कि प्रत्येक मास के लिये जो मैंने एक एक प्राणायामपूर्वक व्यायाम लिखी है उसका उस उस महीने से क्या सम्बन्ध है।

यद्यपि आदित्य (सूर्य) पृथ्वी के चारों तरफ़ घूमता नहीं है तो भी वर्षभर में जो पृथ्वी उसका एक चक्कर पूरा करती है उससे आदित्य ही हमें आकाश में एक गोलाकार चक्र में वर्षभर घूमता प्रतीत होता है। यह सूर्यमार्ग "ज्योतिर्मण्डल" या "राशिचक्र" कहलाता है। इस मार्ग के बारह भाग किये गये हैं, और इस में दीखनेवाले आकाश के बारह नक्षत्र समूहों के कारण ये भाग ही बारह (मीन, मेष, वृष आदि) राशि कहलाते हैं। एक (जैसे मीन) राशि में जब तक सूर्य रहता है तब तक एक (जैसे चैत्र) सौरमहीना रहता है। जब इस राशि से संक्रान्त कर सूर्य दूसरी राशि (जैसे मेष) में आता है तो दूसरा (जैसे वैशाख) सौर महीना हो जाता है। अब यहाँ वह बात देखिये जिसके कारण कि ये बारह सौरमहीने बारह आदित्य देवता कहलाते हैं। आदित्य तो बेशक इस बारह विभागवाले मण्डल में नहीं घूमता है परन्तु तो भी पृथ्वी के आदित्य के चारों तरफ़ घूमने के कारण आदित्य का प्राण (जीवनशक्ति प्रकाश आदि) हम पृथ्वीवासियों को इन राशियों से चिह्नित भिन्न

भिन्न बारह विभागों में से गुजर कर पहुँचता है, अतः यह भिन्न भिन्न बारह प्रकार का प्रभाव रखता है। एवं भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण ही एक आदित्य बारह प्रकार का आदित्य हो जाता है। इसीलिये ये बारह महीने बारह आदित्य कहलाते हैं, द्युस्थानीय बारह आदित्यदेव कहलाते हैं।

देवताओं में आदित्य सर्वोच्च देवता है। शरीर में जैसे जीवात्मा है वैसे इस सौर-मण्डल का आत्मा आदित्य है। यह बात निरुक्त के परिशिष्ट में अच्छी तरह स्पष्ट की गयी है। वेद में स्पष्ट कहा है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।"

ऋ० १.११५.१॥

"सब स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा सूर्य है" यह इस सूर्यदेवताक मन्त्र का आधिदैविक अर्थ है।

प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

प्रश्नोपनिषद् १.८॥

"सब प्राणियों का, सब उत्पन्न वस्तुओं का, प्राण होकर यह सूर्य उदय होता है।" प्रश्नोपनिषद में यह मन्त्र ऋग्वेद का वचन कहकर उपदेश किया गया है। वास्तव में इस संसार के सब प्रकार के जीवन का, सब प्रकार की चेष्टा, गति व क्रिया का तथा सब प्रकार की शक्ति का केन्द्र सूर्य ही है। भौतिक विद्या के ज्ञाता भी प्रकाश, ताप, विद्युत, चुम्बक आदि सब बलों का तथा वनस्पति, पशु, मनुष्यों में रूपान्तरित सब बलों का भी आधार आदित्य को ही मानते हैं। पर आदित्य का यह प्राण ही हमें देश, काल, अवस्था आदि नाना भेदों से भिन्न भिन्न प्रकार का मिलता है और यही प्राण के प्रकार का

भेद है जिसके कारण द्युस्थानीय देवता भिन्न भिन्न बहुत से हुवे हैं तथा एक आदित्य की जगह नाना आदित्य बने हैं। इन प्रसिद्ध १२ आदित्यों के अतिरिक्त ७ आदित्यों का वर्णन निम्न वेदमन्त्र में देखिये—

"सप्त दिशो नानासूर्याः सप्त होतार ऋत्विजः ।
देवा आदित्या ये सप्त तेभिः......॥"

ऋ० ९.११४.३॥

इस मन्त्र में नाना सूर्यवाली (भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्यवाली, भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण भिन्न भिन्न प्रकार के सूर्यवाली) सात दिशाओं का वर्णन है और इसी के अनुसार सात आदित्यों का वर्णन है। एक ही आदित्य भिन्न भिन्न सात दिशाओं में भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देने के कारण सात आदित्य होगया है। इस बात का स्पष्टीकरण प्रश्नोपनिषद् के निम्नवाक्य से हो जाता है।

"अथादित्य उदयन् यत् प्राचीं दिशं प्रविशति, तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत् प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति, तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते।"

प्रश्नोपनिषद् १. ६॥

अर्थात् सूर्य प्राची (सामने की) दिशा में उदय होता हुवा अपनी रश्मियों में १. प्राच्य प्राणों को धारित करता है, दक्षिणा (दायीं) दिशा में उदय होता हुवा २. दाक्षिण प्राणों को रश्मियों द्वारा देता है, इसी तरह ३. पीछे, ४. बायें, ५. नीचे, ६. ऊपर तथा ७. अन्त राल के प्राणों को देता है—और एवं सब प्रकार के प्राणों को अपनी किरणों में देता है। ये ही सात नाना सूर्य दिशाओं के सात आदित्य हैं। पर यह तो दिशाभेद से प्राणभेद हुवा। जो काल या अवस्था

भेद से १२ प्राणभेद हैं उन्हीं के कारण प्रसिद्ध बारह महीनों के बारह आदित्य बने हैं।

"कतमे आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्य एते आदित्या......।"

बृहदारण्यक उप० ३.९.५.॥

"आदित्य कौन से हैं ? संवत्सर के बारह महीने ही बारह आदित्य हैं।"

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक महीने में सूर्य भिन्न भिन्न प्रकार का प्राण देता हुवा भिन्न भिन्न आदित्य कहलाता है। प्रत्येक महीने में आदित्य की किरणें हम पर अपना ज़रा ज़रा भिन्न प्रकार का प्रभाव डालती हुई पड़ रहीं हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार इस पुस्तक में प्रत्येक महीने के लिये भिन्न भिन्न प्रकार की एक एक प्राणवर्धक व्यायाम बतलाई गई है।

८. बारह अंगों के लिये बारह प्रकार का प्राणदायक व्यायाम

यह तो कहा ही जा चुका है कि सूर्य प्राणभण्डार है। सूर्य का पृथ्वी के प्रत्येक जीव के प्राणमयशरीर पर सीधा प्रभाव पड़ता है; और सूक्ष्मदर्शी योगियों के कथनानुसार सूर्यप्राण के इन उपर्युक्त बारह विभागों का, इन बारह आदित्यों का, मनुष्य के निम्नलिखित बारह अंगों पर विशेष प्रभाव पड़ता है अथवा यूँ कहना चाहिये कि सूर्य शरीर के इन बारह अंगों का मनुष्य के निम्न अंगों से सम्बन्ध है, आकर्षण है, मेल है, एकता है—

व रोकना तथा ठीक प्रकार से (निर्दिष्ट समय) श्वास को बाहिर निकालना ।

३. प्रत्येक व्यायाम मानसिक ध्यानपूर्वक करना, मन को निर्दिष्ट प्रकार से यथास्थान लगाना ।

इन तीनों बातों के विषय में पाठकों को कुछ अधिक जान लेना चाहिये, इसलिये इन तीनों विषयों पर क्रमशः कुछ पंक्तियाँ लिखता हूँ ।

१. जो व्यायाम मांसपेशियों को खींचने द्वारा इन्हें तान कर की जाती है, ऐसी कुछ मिनटों की व्यायाम ही ढीली मांसपेशियों के साथ की गयी आध घंटे की व्यायाम से भी बहुत अधिक गुणकारी होती है । व्यायाम-कला के अच्छे ज्ञाता लोग बहुत बार बिना शरीर को हिलाये-डुलाये बैठे बैठे ही, केवल मांसपेशियोंको तानने-खींचने और फिर ढीला छोड़ने द्वारा, सब व्यायाम कुछ मिनटों में कर लिया करते हैं । बात यह है कि जब हम मांसपेशशियाँ तानते हैं तो इस द्वारा अपनी नसों के असंख्यात घटक अणुओं को समाकृष्टक रते हैं और इनके मलों को बाहिर निकाल फेंकते हैं और इस तरह उस अंग में निर्बाध प्राणसंचरण कर लेते हैं । जिस व्यायामपद्धति में केवल अंगों का बढ़ाना होता है, मलों का निकालना नहीं होता, तो उससे अंगों का स्थूल अंश बेशक बढ़ जाता है पर उनमें बल, प्राण, जीवनीशक्ति नहीं होती, उनमें प्राण व रुधिर का संचरण रुकने से रोगोत्पत्ति ज़रूर होती है ।

२. ये व्यायामें सदा शुद्ध से शुद्ध वायु में करनी चाहियें । सूर्य द्वारा आनेवाला प्राण हमारे शरीरों को वायु द्वारा ही सबसे अधिक मिलता है । अतः ठीक प्रकार से श्वास लेने में ही प्राण की प्राप्ति हो जाती है । हमें गहरा, दीर्घ पूर्णश्वास लेना चाहिये । यदि श्वास दीर्घ

और गहरा होगा तो वह पेट तक पहुँचता अनुभव होगा और उससे पहिले पेट फूलेगा पीछे छाती तनेगी, बाहिर निकालते समय पहिले छाती खाली होगी और अन्त में पेट पिचकेगा। ऐसे गंभीर श्वास का लेना दृढ़तापूर्वक और काबू के साथ होना चाहिये तथा श्वास का छोड़ना एकरस और और आसानी से होना चाहिये। इस प्रकार के पूर्णश्वास लेने का, ठीक तरह श्वास-प्रश्वास करने का, अभ्यास करना चाहिये। शरीर में बल और आरोग्य बढ़ानेवाली यह ठीक प्रकार की श्वसनक्रिया ही है, व्यायाम अर्थात् अंगों का हिलाना-डुलाना उतना नहीं है। मांसपेशियाँ बनानेवाले लोग शरीर की प्राणशक्ति और नीरोगता पर ध्यान नहीं देते। असल में तो प्राण की जीवनी शक्ति (नीरोगता और कार्यक्षमता) ही पहिली वस्तु है, शरीर की दृढ़ता और सुडौलता आदि सर्वथा गौण हैं। इसलिये प्रतिमास की उन भिन्न भिन व्यायामों को भी कोई बेशक न करे किन्तु ठीक प्रकार से दीर्घ-श्वास प्रश्वास दिन में ५, ७ वार कर लेवे तो यह पर्य्याप्त है। हमें ठीक प्रकार के प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को शुद्ध और बलवान् (प्राण-पूर्ण) बनाना चाहिये। जब हम श्वास अन्दर लेवें तो हमारे शरीर का एक एक अणु प्राण से उज्जीवित और परिपूर्ण हो जाय तथा जब हम श्वास बाहिर छोड़ें तो हमारे अंगों के मल बाहिर निकलें और नवीन प्राण के लिये शरीर शुद्ध हो जाय। व्यायाम करते हुवे जब हम कोई ऊपर की तरफ़ चेष्टा कर रहे हों तो श्वास का अन्दर लेना तथा जब अपने अंग को नीचे की तरफ़ ले जा रहे हों तो श्वास को बाहिर निकालना चाहिये, ऐसा करने से इस बल-प्राप्ति और शुद्धि की क्रिया में बड़ी सहायता और अनुकूलता मिलती है। अतः व्यायामोंमें श्वास लेने और छोड़नेका यही सामान्य नियम है।

३. पर मन प्राण से भी ऊँची वस्तु है। हम जो कुछ बने हुवे हैं वह अपने विचारों के ही परिणामरूप हैं। यदि हमारी मनःशक्ति जागृत हो तब तो हम व्यायाम का सब काम मन द्वारा ही कर सकते हैं और इसके विपरीत यदि मनःशक्ति न लगायी जाय तो घंटाभर भी किया व्यायाम व्यर्थ है। इसीलिये इन मासिक व्यायामों के साथ कुछ महीनों तक ध्यान व संकल्प भी अच्छे शब्दों में प्रदर्शित कर दिये गये हैं और पाठकों को आगे भी इसी तरह संकल्प व ध्यान स्वयं अपने शब्दों में बना लेने चाहियें और इन संकल्पों के साथ मनोयोग पूर्वक ये व्यायामें करनी चाहियें। पाठकों को धीरे धीरे अनुभव होगा कि ध्यानों का कितना प्रभाव है। यदि बीमारी आदि के कारण इन प्राण-व्यायामों का करना कभी संभव न हो तो भी इन ध्यानों को नहीं छोड़ना चाहिये, केवल इन ध्यानों संकल्पों ही से बड़ा लाभ होगा। याद रखिये कि आखिरकार हमारे शरीर का एक एक अंग और कुछ नहीं है यह भौतिकरूप में दृढ़ हुवा मनस्तत्व ही है। अतः यदि हम में मनःशक्ति प्रबल हो तो हम शरीर में जो चाहें वही परिवर्त्तन कर सकते हैं। अथर्ववेद के बहुत से सूक्त संकल्प-शक्ति द्वारा रोगों की निर्मूल करने के लिये ही हैं। वेद से वास्तविक लाभ तो हम तभी उठा सकते हैं जब कि हमने अपने मन को जागृत और बलरूप बना लिया हो। अस्तु।

यह फिर दोहराने की आवश्यकता है कि मुख्य वस्तु स्वास्थ्य है, प्राणशक्तिपूर्ण स्वास्थ्य है। हमारा शरीर पुष्ट होरहा है या नहीं इसकी अपेक्षा हमें इस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है कि हमारे शरीर की पुष्टि कैसे (किस प्रकार के) अणुओं से होरही है। यदि हमारा रुधिर अशुद्ध होगा तो उससे बने अंग भी मलिन होंगे और ये

स्वास्थ्य भी दान-आदान (हवन) के सिद्धान्त पर—अशुद्ध अणुओं के छोड़ने तथा नये शुद्ध अणुओं के लेने के सिद्धान्त पर—आश्रित है। पर ये नये अणु किस प्रकार के आकृष्ट होंगे यह सबसे पहिले हमारे विचारों पर (मन पर) निर्भर है और फिर इस बात पर निर्भर है कि हमारे अंग ठीक प्राणाभ्यासों द्वारा अभीष्ट अणुओं के खींचने के अभ्यासी हो गये हैं या नहीं। अतः हमें अपने विचारों को बड़े प्रबल, उत्साहमय और शुद्ध बनाना चाहिये, मन को आज्ञा देनेवाला बनाना चाहिये और प्राणाभ्यास द्वारा शरीर को संसारव्यापक महाप्राण से एकस्वर (In tune) रखना चाहिये। अपनी मनःशक्ति से प्राणायामों (ठीक प्रकार श्वसन के अभ्यास) के साधन द्वारा शरीर को शुद्ध और नित्य नव प्राणान्वित करना, यही वास्तव में सच्ची शरीर-साधना (Physical Culture) है। इस ही प्रयोजन के लिये ये व्यायामें हैं।

ये व्यायामें प्राणाभ्यासपूर्वक मनोयोग के साथ प्रतिदिन दो बार कर लेनी चाहियें—प्रातः उठते ही, यदि शौच व लघुशंका का वेग हो तो उससे निवृत्त होकर, तथा रात्रि में सोने से पूर्व (यदि उस समय पेट भारी हो जोकि होना नहीं चाहिये, तो सायं भोजन से पूर्व) करनी चाहियें। व्यायाम शुरू करने से पूर्व ५, ७ बार उपरिनिर्दिष्ट पूर्ण श्वास-प्रश्वास कर लेना चाहिये, और अपने मन को स्वास्थ्य, शक्ति, पवित्रता आदि भावों से भरकर पूरे मनोयोग के साथ इन अभ्यासों को करना चाहिये।

१०. दो चित्र

वेदमन्त्रों के आशय को हृदयाङ्कित करने के लिये चित्रों का भी उपयोग करना बड़ा अच्छा है। अतः हमारा विचार है कि इस पुस्तक में प्रत्येक ऋतु के पहिले मन्त्र को, बल्कि प्रत्येक मास के पहिले मन्त्र को चित्रों द्वारा स्पष्ट किया जाय। प्रत्येक ऋतु और प्रत्येक मास का

पहिला मंत्र ऐसा ही रखा गया है जिसे कि चित्रित किया जासके। इस खण्ड में आयी दोनों ऋतुओं के प्रारंभिक मंत्र को अर्थात् प्रथम चैत्र और प्रथम ज्येष्ठ के मंत्र को चित्रित भी किया गया है। चित्रकार महोदय का आभारी होता हुवा भी यह अवश्य कहना चाहता हूं ये चित्र पूरे भाव को लाने में इतना अधिक दूर रहे हैं कि इन्हें पुस्तक में देने में बड़ा संकोच होता है तो भी इस आशा से कि इन मंत्रों से तन्मना हो सकने वाले कोई 'अज्ञात कलाविद् चित्रकार इन चित्रोंको देखकर इस पुस्तक की इस भारी त्रुटि को दूर कर सकने में मुझे, गुरुकुल को सहायता प्रदान करने को प्रेरित हो सकेंगे ये चित्र भी दे दिये हैं।

११. धन्यवाद

अन्त में मैं अपने मित्र पं० देवनाथ जी विद्यालङ्कार को बहुत बहुत धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने कि न केवल छपाने के लिये बड़ी समझदारी और बड़े यत्न से इस पुस्तक की एक दूसरी ठीक ठीक प्रतिलिपि कर देने की कृपा की है, किन्तु इसके छपाने के सम्पूर्ण अति कठिन कार्यभार को ही अपने स्वाभाविक बिलकुल अनन्यभाव से सम्पन्न किया है।

इस पुस्तक के स्वाध्याय से लाभ उठानेवाले सज्जनों को वर्त्तमान वेदभाष्यकारों में से पं० श्री पा० दा० सातवलेकर जी तथा श्री पं० जयदेव जी विद्यालङ्कार को भी हृदय से धन्यवाद देना चाहिये, क्योंकि मन्त्रों के चुनाव में तथा अर्थों के निश्चय करने में मुझे उक्त दोनों महानुभावों के भाष्यों से बड़ी सहायता मिली है।

प्रथमखण्ड का यह द्वितीय संस्करण निकलने के लिये मैं स्वाध्यायशील पाठकों का भी धन्यवाद करता हूं।

गुरुकुल कांगड़ी
१ माघ १९८९

स्वाध्यायशील जनों का सेवक
'अभय'

वसन्त ऋतु

(गायत्री छन्द)

वसन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—साधारणतः चैत्र और वैशाख मास की ऋतु वसन्त ऋतु मानी जाती है। कई फाल्गुन और चैत्र मास की ऋतु को वसन्त ऋतु कहते हैं। पूरे जाड़े (शीत) की ऋतु से पूरी गर्मी की ऋतु में पहुँचने में मध्य में दो ऋतुयें पड़ती हैं, इनमें से एक जाड़े को समाप्त करनेवाली है और दूसरी गर्मी का प्रारम्भ करनेवाली है। यह दूसरी ऋतु वसन्त ऋतु है। इस ऋतु में गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु अपने पूर्ण रूप में नहीं आती।

महिमा—वसन्त ऋतु में नये जीवन का प्रारम्भ होता है। शिशिर ऋतु की रूक्षता से शीर्ण हुई वनस्पतियाँ फिर नये अंकुरों, नये पत्तों, नये पुष्पों से नया जीवन प्रारम्भ करती हैं। शिशिर में सब वृक्ष वनस्पतियों की रूक्षता के कारण जब पुराने पत्ते झड़ चुकते हैं तब उन के नये पत्ते, फूल, अंकुर आदि वसन्त ऋतु में फूटते हैं। इस ऋतु में वनस्पतियों तथा स्थावर, अस्थावर जगत् का नवीन जीवन शुरू होता है। हमें भी अपना नवीन जीवन इस ऋतु में शुरू करना चाहिये। इस लिये वसन्त ऋतु ही सब से पहिली ऋतु समझी जाती है और 'ऋतुराज' कहलाती है। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है "ऋतूनां कुसुमाकरः—" अर्थात् सब ऋतुओं में से सब से अधिक दिव्यता सब से अधिक परमात्मा के वैभव का प्रकाश इस ऋतु में ही होता है। इस ऋतु में जैसा जीवन प्रारम्भ किया जायगा, उसका असर शेष सारे वर्ष पर पड़ेगा। इस ऋतु में हमें खूब अच्छी तरह से—सावधानी से अपना खान-पान, व्यवहार-विचार आदि को पवित्र और सुन्दर बनाने चाहियें।

योगसाधन करनेवाले वसन्त में (या शरद् में) ही अपना साधन

प्रारम्भ करते हैं। प्राणायाम का नया अभ्यास का प्रारम्भ भी वसन्त या शरद् में किया जाता है। अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से नाना रोग होने की सम्भावना होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास छोड़ देना चाहिये। प्राणायाम को वसन्त या शरद् में प्रारम्भ करके ज़ारी तो हमेशा रखना चाहिये, परन्तु जो पुरुष प्राणायाम पहिले से न करता हो उसे प्राणायाम का या प्राण-सम्बन्धी किसी भी क्रिया का प्रारम्भ वसन्त या शरद् में ही करना चाहिये। इसका कारण यह है कि प्राण की क्रियाओं का सम्बन्ध वात से है। अतः इसे यदि हम कफ और पित्त की अधिकता के समय में प्रारम्भ करें तो किसी प्रकार के वातविकार होने का डर नहीं होता।

हठयोगी लोग 'षट्कर्म' (नेति, धोती, वस्ती आदि कर्म) द्वारा शरीर की शुद्धि करने के लिये भी इस ऋतु को सब से अच्छा मानते हैं। वे लोग वर्ष में दो बार अर्थात् वसन्त और शरद् के प्रारम्भ में इन कर्मों द्वारा अपने शरीर की सफ़ाई अवश्य कर लिया करते हैं।

इस ऋतु में जहाँ नये पत्ते अंकुर आदि फूटते हैं वहाँ शरीर के दोष मल (Foriegn matter) भी फूटता है, इसलिये यदि इस ऋतु का हम ठीक उपयोग उठावें तो हम अपने शरीर को दोषों से रहित और निर्मल एवं पवित्र कर सकते हैं।

गुण—यह ऋतु पदार्थों में मधुरता उत्पन्न करनेवाली, स्निग्ध और कफ की वृद्धि करनेवाली है। जाड़ों (शीत) में सञ्चित कफ इस ऋतु में प्रकुपित होता है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु में कफ प्रकुपित होता है इसलिये कफ को दूर करने के सब उपाय इस ऋतु में करने चाहियें।

वसन्त की ऋतुचर्या

लक्षण—साधारणतः चैत्र और वैशाख मास की ऋतु वसन्त ऋतु मानी जाती है। कई फाल्गुन और चैत्र मास की ऋतु को वसन्त ऋतु कहते हैं। पूरे जाड़े (शीत) की ऋतु से पूरी गर्मी की ऋतु में पहुँचने में मध्य में दो ऋतुयें पड़ती हैं, इनमें से एक जाड़े को समाप्त करनेवाली है और दूसरी गर्मी का प्रारम्भ करनेवाली है। यह दूसरी ऋतु वसन्त ऋतु है। इस ऋतु में गर्मी प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु अपने पूर्ण रूप में नहीं आती।

महिमा—वसन्त ऋतु में नये जीवन का प्रारम्भ होता है। शिशिर ऋतु की रूक्षता से शीर्ण हुई वनस्पतियाँ फिर नये अंकुरों, नये पत्तों, नये पुष्पों से नया जीवन प्रारम्भ करती हैं। शिशिर में सब वृक्ष वनस्पतियों की रूक्षता के कारण जब पुराने पत्ते झड़ चुकते हैं तब उन के नये पत्ते, फूल, अंकुर आदि वसन्त ऋतु में फूटते हैं। इस ऋतु में वनस्पतियों तथा स्थावर, अस्थावर जगत् का नवीन जीवन शुरू होता है। हमें भी अपना नवीन जीवन इस ऋतु में शुरू करना चाहिये। इस लिये वसन्त ऋतु ही सब से पहिली ऋतु समझी जाती है और 'ऋतुराज' कहलाती है। श्रीकृष्ण जी ने गीता में कहा है "ऋतूनां कुसुमाकरः—" अर्थात् सब ऋतुओं में से सब से अधिक दिव्यता सब से अधिक परमात्मा के वैभव का प्रकाश इस ऋतु में ही होता है। इस ऋतु में जैसा जीवन प्रारम्भ किया जायगा, उसका असर शेष सारे वर्ष पर पड़ेगा। इस ऋतु में हमें खूब अच्छी तरह से—सावधानी से अपना खान-पान, व्यवहार-विचार आदि को पवित्र और सुन्दर बनाने चाहियें।

योगसाधन करनेवाले वसन्त में (या शरद् में) ही अपना साधन

प्रारम्भ करते हैं। प्राणायाम का नया अभ्यास का प्रारम्भ भी वसन्त या शरद् में किया जाता है। अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करने से नाना रोग होने की सम्भावना होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि अन्य ऋतुओं में प्राणायाम का अभ्यास छोड़ देना चाहिये। प्राणायाम को वसन्त या शरद् में प्रारम्भ करके ज़ारी तो हमेशा रखना चाहिये, परन्तु जो पुरुष प्राणायाम पहिले से न करता हो उसे प्राणायाम का या प्राण-सम्बन्धी किसी भी क्रिया का प्रारम्भ वसन्त या शरद् में ही करना चाहिये। इसका कारण यह है कि प्राण की क्रियाओं का सम्बन्ध वात से है। अतः इसे यदि हम कफ और पित्त की अधिकता के समय में प्रारम्भ करें तो किसी प्रकार के वातविकार होने का डर नहीं होता।

हठयोगी लोग 'षट्कर्म' (नेति, धोती, वस्ती आदि कर्म) द्वारा शरीर की शुद्धि करने के लिये भी इस ऋतु को सब से अच्छा मानते हैं। वे लोग वर्ष में दो बार अर्थात् वसन्त और शरद् के प्रारम्भ में इन कर्मों द्वारा अपने शरीर की सफ़ाई अवश्य कर लिया करते हैं।

इस ऋतु में जहाँ नये पत्ते अंकुर आदि फूटते हैं वहाँ शरीर के दोष मल (Foriegn matter) भी फूटता है, इसलिये यदि इस ऋतु का हम ठीक उपयोग उठावें तो हम अपने शरीर को दोषों से रहित और निर्मल एवं पवित्र कर सकते हैं।

गुण—यह ऋतु पदार्थों में मधुरता उत्पन्न करनेवाली, स्निग्ध और कफ की वृद्धि करनेवाली है। जाड़ों (शीत) में सञ्चित कफ इस ऋतु में प्रकुपित होता है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु में कफ प्रकुपित होता है इसलिये कफ को दूर करने के सब उपाय इस ऋतु में करने चाहियें।

शिशिर में स्निग्ध तथा शीत पदार्थों के सेवन के कारण शरीर में जो श्लेष्मा (कफ) सञ्चित हुई होती है वह वसन्त में सहसा गर्मी के पड़ने से प्रकुपित हो जाती है और कफजन्य रोग यथा जुखाम, खाँसी, गले की खराबी, अरुचि, भूख न लगना, भारीपन आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं। अतः इस ऋतु के प्रारम्भ में ही श्लेष्मा के क्षय के लिये यत्न करना चाहिये। कोई अच्छे प्रकार का अपनी प्रकृति के अनुसार उचित ढंग से एक वार वमन कर लेना चाहिये। वमन कर लेने से आमाशय की श्लेष्मा क्षीण होती है। इसी प्रकार गले की कफनाशक गरारों द्वारा, आँखों की कफनाशक अंजनों द्वारा तथा नासिका की कफ-नाशक नस्यों द्वारा एवं आँतों की हलके विरेचन द्वारा कफ दूर कर लेना चाहिये।

इस ऋतु में हलके रूक्ष, तीक्ष्ण, गरम पदार्थ खाने हितकर हैं, गेहूँ मूँग, चित्रक, शहद, सोंठ, अद्रक आदि का सेवन अत्यन्त लाभकर है।

इसके विरुद्ध इस ऋतु में कफवर्धक वस्तुयें न खानी चाहियें। अर्थात् खट्टे, भारी, मीठे, चिकने तथा शीतवीर्य भोजन तथा दही भल्ले पकवान आदि गरिष्ट भोजन कफवर्धक होने से खाने उचित नहीं है।

इन दिनों कभी-कभी उपवास कर लेना लाभदायक होगा।

व्यायाम द्वारा भी श्लेष्मा दूर कर देनी चाहिये। इस ऋतु में भ्रमण करना बहुत अच्छा समझा जाता है—'वसन्ते भ्रमणं पथ्यम्।'

दिन में सोना कफवर्धक होने से वर्जनीय है।

उस कहावत के अनुसार चैत्र में गुड़ खाना और वैशाख में तैल खाना या तैल-मर्दन निषिद्ध है।

चैत्रमास

चैत्र मास (मीन)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

सिर को नीरोगता और स्वास्थ्य देनेवाला

एडियाँ मिलाकर, पंजों को एडिओं से ३०-३५ अंश के कोन पर रखकर सीधे खड़े होइये। खड़े होकर अपनी दोनों भुजाओं को दायें बायें पूरा खोलकर फैला दीजिये, ऐसी सीधी फैलाइये कि ये कंधों के साथ समतल फैली हों। हथेली ऊपर की तरफ़ रहे। छाती ज़रा-सी आगे बढ़ी हुई हो। अब हाथों की मुट्ठी इतनी ज़ोर से कसिये कि

भुजाओं की सब मांसपेशियाँ (Muscles) कस जायँ और साथ ही सारे शरीर की मांसपेशियाँ तन जायँ। इस अवस्था में भुजाओं को धीरे-धीरे ऊपर उठाते जाइये जब तक कि ऊपर दोनों मुट्ठियाँ मिल न जायँ। जब ये भुजायें ऊपर उठायी जा रही हों तब एक दीर्घश्वास अन्दर भरिये। जिस समय हाथों को नीचे ला रहे हों तब श्वास को धीरे धीरे बाहर निकालिये। यह कर चुकने पर हाथों की मुट्ठी और मांसपेशियों को ढीला कर दीजिये और पूर्वस्थिति में हो जाइये। इस प्रकार व्यायाम ८-१० मिनट तक बार-बार कीजिये। इस प्राणायाम के समय मन को सिर में लगाइये, मन द्वारा यह चित्रित कीजिये कि प्राणवायु मेरे मस्तिष्क में मेरे सिर में, मेरे एक-एक घटक (Cell) में पहुँच कर उसे अनुप्राणित कर रहा है। ऐसा ध्यान करने से सिर की तरफ़ रुधिर-संचरण (Circulation) बढ़ेगा और वास्तव में सिर में प्राण पहुँचने में सहायता करेगा।

ध्यान—यह प्राणायाम मुझे लाभ पहुँचा रहा है। रुधिर मेरे सिर में, मेरे मस्तिष्क में भली प्रकार संचरण कर रहा है। यहाँ के सब दूषित मल निकल रहे हैं और प्राणशक्ति निर्बाध—बे-रोकटोक—ऊपर पहुँच रही है। मेरा शीर्ष निर्मल है और उसका एक-एक घटक स्वास्थ्य से जीवन-पूर्ण हुवा हुवा है।

सिर के लिये गौणतया आषाढ़, आश्विन और पौष की प्राणदायक व्यायामें भी लाभ पहुँचायेंगी।

*

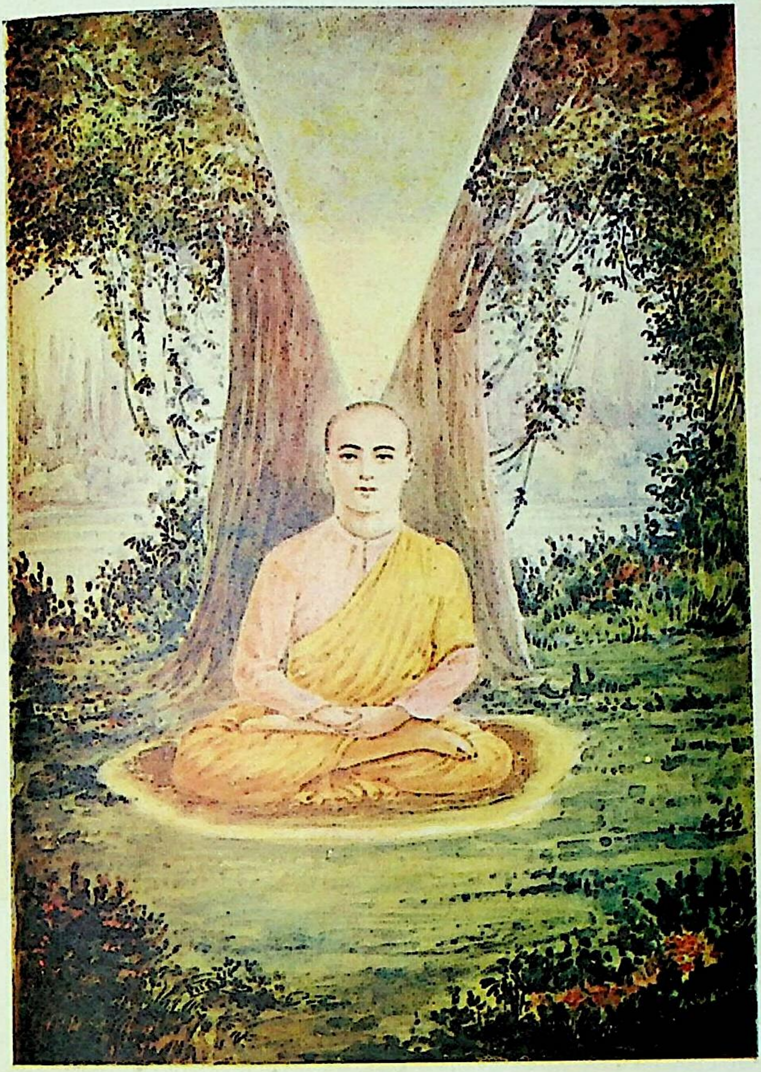
* *

भूर्भुवः स्वः
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

ऋ० ३.६२.१० । यजु० ३.३५ । साम० उ० ६.३.१०॥

विनय

मुझे क्या करना चाहिये क्या नहीं; यह मैं नहीं जानता । किस समय क्या कर्त्तव्य है क्या अकर्त्तव्य; क्या धर्म है क्या अधर्म; यह मैं नहीं जान पाता । सुना है कि बड़े-बड़े ज्ञानी भी बहुत बार इस तरह किंकर्त्तव्यविमूढ़ रहते हैं । पर क्या इसका कोई इलाज नहीं है ? हे सवितः देव ! हमारे उत्पादक देव ! क्या तूने हमें उत्पन्न करके इस अंधेरे संसार में यों ही छोड़ दिया है । कोई निर्भ्रान्त (निश्चित) प्रकाश हमारे लिये तुमने नहीं दिया है । यह कैसे हो सकता है ? नहीं, तुम अपने अनन्त प्रकाश के साथ सदा हमारे हो । यदि हम चाहें और यत्न करें तो तुम हमें अपने प्रकाश से आप्लावित कर सकते हो । इसके लिये हम आज से ही यत्न करेंगे और तेरे उस 'भर्ग' (विशुद्ध तेज) को अपने में धारण करने लगेंगे जो कि वरणीय है, जिसे कि हर किसी को लेना चाहिये—जिसे कि प्रत्येक मनुष्य-जन्म पानेवाले को अपने अन्दर स्वीकार करने की ज़रूरत है । इस तेरे वरणीय शुद्ध स्वरूप का हम जितना



भर्गो देवस्य धीमहि

श्रवण, मनन, निदिध्यासन करेंगे अर्थात् जितना तेरा कीर्त्तन सुनेंगे, तेरा विचार करेंगे, तेरे में मन एकाग्र करेंगे, तेरा जप करेंगे, तुझमें अपना प्रेम समर्पित करेंगे उतना ही तेरा शुद्ध स्वरूप हमारे अन्दर धारण होता जायगा। बस, यह ऊपर से आता हुआ तुम्हारा तेज ही हमारी बुद्धि को और फिर हमारे कर्मों को ठीक दिशा में प्रेरित करता रहेगा। इस शुद्ध स्वरूप के साथ तुम ही मेरे हृदय में बस जाओगे और तुम ही मेरे बुद्धि, मन आदि सहित इस शरीर के संचालक हो जाओगे। फिर धर्म अधर्म की उलझन कहाँ रहेगी! तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इस शरीर की एक एक चेष्टा में शुद्ध धर्म की ही वर्षा होगी। इसलिये हे प्रभो! हम आज से सदा तुम्हारे शुद्ध तेज को अपने में धारण करने में लगते हैं। एक एक मानसिक विचार के साथ, एक एक जप के साथ इस तेज का अपने अन्दर आह्वान करेंगे और इस तरह प्रतिदिन इस तेज को अपने में अधिक-अधिक एकत्र करते जायँगे। निश्चय है कि इस 'भर्ग' की प्राप्ति के साथ-साथ धर्म के निश्चय में पटु होती जाती हुई हमारी बुद्धि एक दिन तुम्हारी सर्वज्ञता के कारण पूरी तरह बिल्कुल ठीक मार्ग पर ही चलने वाली हो जायगी।

शब्दार्थ

(सवितुः) प्रेरक उत्पादक (देवस्य) परमात्मदेव के (तत्) उस (वरेण्यं) वरने योग्य (भर्गः) शुद्ध तेज को (धीमहि) हम धारण करते हैं, ध्यान करते हैं (यः) जो धारण किया हुआ तेज (नः) हमारी (धियः) बुद्धियों को, कर्मों को (प्रचोदयात्) सदा सन्मार्ग पर प्रेरित करता रहे।

---

२ चैत्र

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयं ।
नमो भरन्त एमसि ॥

ऋ० १.१.७। साम० पू. १.१.४॥

विनय

जब से हम उत्पन्न हुवे हैं, दिन के पश्चात् रात और रात के पश्चात् दिन आता जाता है। प्रतिदिन एक नया-नया दिन और एक नयी-नयी रात आती जाती है। इस तरह यह अनवरत अविश्रान्त काल-चक्र चल रहा है। इस काल-चक्र में हम कहाँ जा रहे हैं ? हे मेरे प्रभु अग्निदेव ! तुमने तो ये अहोरात्र इसलिये रचे हैं कि प्रत्येक अहोरात्र के साथ अपनी आत्मिक उन्नति का दाँया और बाँया पैर आगे बढ़ाते हुवे हम प्रतिदिन तुम्हारे निकट-निकट पहुँचते जायँ। यदि हम प्रत्येक अहोरात्र के आरम्भों में अर्थात् प्रातःकाल और सायंकाल के समय में

अपनी बुद्धि द्वारा तुम्हारे आगे झुकते हुवे, नमन करते हुवे तथा कर्म द्वारा भी अपने "नमः" की भेंट तुम्हारे प्रति लाते हुवे, तुम्हारे लिये स्वार्थ-त्याग करते हुवे चलेंगे तो यह दिन-रात का चक्र हमें एक दिन तुम्हारे चरणों में पहुँचा देगा। इसलिये, हे अग्निरूप परमदेव ! हम आज से निश्चय करते हैं कि हम प्रत्येक अहोरात्र को (प्रातःकाल और सायंकाल) अपनी बुद्धि तथा कर्म द्वारा तुम्हें नमस्कार की भेंट चढ़ाते हुवे (आत्म-समर्पण व स्वार्थ-त्याग करते हुवे) ही अब जीवेंगे और इस तरह जहाँ प्रत्येक दिन के श्रममय काल में हमारा दाँया पग तुम्हारी तरफ़ बढ़ेगा वहाँ प्रत्येक रात्रिकाल में हमारी उन्नति का बाँया पग उस उन्नति को स्थिर करता जायगा। हे प्रभो ! ये दिन-रात इसीलिये प्रतिदिन आते हैं। निश्चय ही आज से प्रत्येक अहोरात्र हमें तुम्हारे समीप लाता जायगा। आज से प्रतिदिन हम स्वार्थ-त्याग द्वारा पवित्रान्तःकरण होते हुवे और पवित्रान्तःकरण से प्रातः सायं तुम्हारी वन्दना करते हुवे प्रति-दिन तुम्हारी तरफ़ आने लगे हैं, हे प्रभो ! प्रतिदिन तुम्हारे समीप आते जा रहे हैं।

शब्दार्थ

(अग्ने) हे अग्ने ! (वयं) हम (दिवे दिवे) प्रतिदिन (दोषावस्तः) रात और दिन के समय (धिया) बुद्धि व कर्म से (नमो भरन्तः) नमस्कार की भेंट लाते हुवे (त्वा) तेरे (उप) समीप (एमसि) आ रहे हैं।

३ चैत्र

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि
स इद् देवेषु गच्छति ॥

ऋ० १.१.४॥

विनय

हम कई शुभ अभिलाषाओं से कुछ यज्ञों को प्रारम्भ करते हैं और चाहते हैं कि यज्ञ सफल हो जाँय। परन्तु हे देवों के देव अग्निदेव ! कोई भी यज्ञ तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि उस यज्ञ में तुम पूरी तरह न व्याप रहे हो, चूँकि जगत् में तुम्हारे अटल नियमों व तुम्हारी दिव्य-शक्तियों के अर्थात् देवों के द्वारा ही सब कुछ सम्पन्न होता है। तुम्हारे बिना हमारा कोई यज्ञ कैसे सफल हो सकता है? और जिस यज्ञ में तुम व्यापत हो वह यज्ञ अध्वर (ध्वरा अर्थात् कुटिलता और

हिंसा से रहित) तो ज़रूर होना चाहिये। पर जब हम यज्ञ प्रारम्भ करते हैं, कोई शुभ कर्म करते हैं, किसी संघ, संगठन में लगते हैं, परोपकार का कार्य करने लगते हैं तो मोहवश तुम्हें भूल जाते हैं। उसकी जल्दी सफलता के लिये हिंसा और कुटिलता से भी काम लेने को उतारू हो जाते हैं, तभी तुम्हारा हाथ हमारे ऊपर से उठ जाता है। ऐसा यज्ञ तुम्हारे देवों को स्वीकृत नहीं होता, उन्हें नहीं पहुँचता—सफल नहीं होता। हे प्रभो! अब जब कभी हम निर्बलता के वश अपने यज्ञों में कुटिलता व हिंसा का प्रवेश करने लगें और तुझे भूल जाँय तो हे प्रकाशक देव! हमारी अन्तरात्मा में एक बार इस वैदिक सत्य को जगा देना, हमारा अन्तरात्मा बोल उठे कि "हे अग्ने! जिस कुटिलता व हिंसा-रहित यज्ञ को तुम सब तरफ़ से घेर लेते हो, व्याप लेते हो; केवल वही यज्ञ देवों में पहुँचता है अर्थात् दिव्य फल लाता है—सफल होता है।" सचमुच तुम्हें भुलाकर, तुम्हें हटाकर यदि किसी संगठन शक्ति द्वारा कुटिलता व हिंसा के ज़ोर पर कुछ करना चाहेंगे तो चाहे कितना घोर उद्योग करें पर हमें कभी सफलता न होगी।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे परमात्मन्! (त्वं) तुम (यं) जिस (अध्वरं यज्ञं) कुटिलता तथा हिंसा से रहित यज्ञ को (विश्वतः परि भूः असि) सब तरफ़ से व्याप लेते हो (स इत्) केवल वही यज्ञ (देवेषु गच्छति) दिव्य फल लाता है।

*

* *

४ चैत्र

यद् अंग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत् तत् सत्य मंगिरः ॥

ऋ० १.१.६॥

विनय

हे प्रकाशमय देव ! यह सच है कि स्वार्थत्यागी का कल्याण ही होता है । पर दुनिया में ऐसा दिखाई नहीं देता। दुनिया में तो दीखता है कि स्वार्थमग्न लोग ही आनन्द मौज उड़ा रहे हैं और स्वार्थत्यागी दुःख भर रहे हैं । स्वार्थी विजय पर विजय पा रहे हैं दूसरों पर जुलम कर रहे हैं और स्वार्थ-त्यागी पुरुष सताये जा रहे हैं। परन्तु हे मेरे प्यारे देव ! हे मेरे जीवनसार ! आज मैं तेरी परम कृपा से सूर्य की तरह यह साफ़ देख रहा हूँ कि आत्म-बलिदान करने वाले का तो सदा कल्याण ही होता है । इसमें कुछ संशय नहीं रहा, यह अटल है, बिल्कुल स्पष्ट है । दुनिया की ये प्रतिदिन की उलटी दिखाई देने वाली घटनायें भी आज मेरी खुली आँखों के सामने से इस प्रकाशमान सत्य को छिपा नहीं सकती हैं कि आत्म-

समर्पण करनेवाले के लिये कल्याण ही कल्याण है। मैं देखता हूँ कि दुनिया में चाहे कभी सूर्य टल जाय, ऋतुएँ बदल जायँ पृथ्वी उलटी घूमने लग जाय और सब असंभव संभव हो जाय पर यह तेरा सत्य अटल है कि आत्म-बलिदान करनेवाले का अकल्याण कभी नहीं हो सकता—"नहि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात् गच्छति" ["हे प्यारे ! कल्याण करनेवाला कभी दुर्गति को नहीं प्राप्त होता"] कृष्ण भगवान् के गाये हुवे ये सान्त्वनामय शब्द परम सच्चे हैं।

हे जीवन के जीवन ! जब मनुष्य स्वार्थ को त्यागता है, आत्म-बलिदान करता है तो उस त्याग व बलिदान द्वारा हे कल्याणस्वरूप ! वह केवल तेरे और अपने बीच की रुकावट का ही त्याग करता है, निवारण करता है और तेरे कल्याण-स्वरूप को पाता है। भला, आत्म-बलिदान में अकल्याण की गुंजाइश ही कहाँ है ? सचमुच, स्वार्थशून्य पवित्र पुरुषों पर आये हुवे कष्ट, दुःख, आपत् सब क्षणिक होते हैं। उनके सम्बन्ध में जो अक्षणिक है, सत्य है, अटल है वह तो उनका कल्याण है।

शब्दार्थ

(अंग) हे प्यारे ! (अंगिरः) मेरे जीवनसार (अग्ने) प्रकाशक देव ! (यत् त्वं) जो तू (दाशुषे) आत्म बलिदान करनेवाले का (भद्रं) कल्याण (करिष्यसि) करता है (तत्) वह (तव) तेरा (सत्यं इत्) सच्चा, न टलनेवाला नियम है।

*

* *

५ चैत्र

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥

ऋ० १.१.९॥

विनय

संसार में हमारा जिन द्वारा जन्म होता है उन्हें हम पिता कहते हैं—और भी जो वृद्ध पुरुष गुरु आदि होते हैं वे भी हमारा उत्कृष्ट पालन करनेवाले होने से पिता कहलाते हैं। परन्तु हे प्रभो अग्ने! हम सभी को कभी न कभी अनुभव हो जाता है कि हमारे असली पालक पिता तो तुम्हीं एक मात्र हो। एक समय आता है जब कि सांसारिक पिता भी वैसे ही रोते खड़े रह जाते हैं और हमारी पालना, रक्षा नहीं कर सकते। सचमुच संसार के हम सब वासी—सांसारिक पिता व पुत्र सब के सब—तेरे एक समान पुत्र हैं। हे हम सबके पिता!

हे परम पिता ! जब हम सब तेरे पुत्र हैं तो हमारी तेरे तक हमेशा पहुँच क्यों नहीं होती है ? पुत्र का तो यह अधिकार है कि वह जब चाहे पिता के पास पहुँच सके। जब इस संसार में और कोई हमारी रक्षा कर सकनेवाला है ही नहीं, हमारा दुखड़ा सुन सकनेवाला है ही नहीं, तो हे पिता ! हम और कहाँ जाँय ? तू तो हमारे लिये 'सु उपायन' रह, सुगमता से पहुँच हो सकनेवाला हो। हे एक-मात्र पिता ! हम जिस समय चाहें, जिस जगह चाहें तुझे मिल सकें—अपना दुःख सुना सकें—अपनी बाल-कामनायें पूरी करा सकें। हम बच्चों की तुमसे यही प्रार्थना है, यही याचना है।

और हमारा कल्याण किसमें है, यह भी हम अबोध बालक क्या जानें। जो हमें अकल्याण दिखाई देता है वही पीछे पता लगता है कि वह कल्याण था। हे पिता ! तुम्हीं जानते हो कि हम बच्चों का कल्याण किसमें है। बस, तुम्हीं हमारी स्वस्ति के लिये, कल्याण के लिये हमें—अपने बच्चों को—सेवित करो, पालो-पोसो। हम तुम्हारे बच्चे हैं ! हम तुम्हारे बच्चे हैं !!

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रभो अग्ने ! (स) वह तुम (पिता सूनवे इव) पिता की तरह मुझ पुत्र के लिये (सु उपायनः भव) सुगमता से पहुँचने योग्य (भव) होवो और (स्वस्तये) कल्याण के लिये (नः) हमें (सचस्व) सेवित करो। संगच्छ नः। षत्र समवाय इत्यस्य रूपम्।

*

* *

६ चैत्र

मा प्रगाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥

ऋ० १०.५७.१॥ अथर्व १३.१.५९॥

विनय

हे इन्द्र, परमैश्वर्यवान् ! हम तुमसे ऐश्वर्य नहीं माँगते हैं। हमारी तुमसे याचना तो यह है कि हम सदा सन्मार्ग पर चलते जायँ, इसको कभी न छोड़ें। सन्मार्ग पर चलते हुवे हमें जो कुछ ऐश्वर्य मिलेगा वही सच्चा ऐश्वर्य होगा। जिस किसी तरह मिला हुवा 'ऐश्वर्य' ऐश्वर्य नहीं होता—उसमें ईश्वरत्व नहीं होता—सामर्थ्य नहीं होता। सन्मार्ग से जो कुछ ऐश्वर्य मुझे मिलेगा, उस ऐश्वर्य को तुझसे पाकर हे इन्द्र ! मेरी प्रार्थना है कि मैं यज्ञ से कभी विचलित न होऊँ। यज्ञ करता हुवा—उपकार करता हुवा ही मैं उस तेरे दिये ऐश्वर्य को भोगूँ। जो कुछ तुम्हारे द्वारा (तुम्हारे देवों द्वारा) मुझे

मिला है, उसे तुम्हें (देवों को) बिना दिये भोगना चोरी[1] है। ऐसा पाप स्वार्थवश हम कभी न करें। यज्ञ को, आत्म-त्याग को, परार्थ में आत्म-विसर्जन को कभी न भूलें। यज्ञ के बिना भोग भोगना विषपान करना है। अतः हमारी दूसरी प्रार्थना है कि हम यज्ञ को कभी न छोड़ें।

हमारी तुमसे यह प्रार्थना नहीं है कि तुम हमारे शत्रुओं को नाश कर दो। हमारी याचना तो यह है कि हमारे अपने अन्दर 'अराति'[2] न ठहरें। हमारे अन्दर अराति न हों तो बाहर हमारा अराति कोई कैसे हो सकता है। अराति अर्थात् अदानभाव हमारे अन्दर क्षण भर को न ठहरें, क्षण भर के लिये न आवें। अदानभाव होते हुवे यज्ञ असम्भव है। अतः हमारा एक-मात्र शत्रु अदानभाव ही है। यह अन्दर का शत्रु ही हमारा शत्रु है। हे प्रभो! इससे हमारी रक्षा करो। फिर बाहर के किसी शत्रु की हमें परवाह नहीं।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (वयं) हम (पथो मा प्रगाम) सन्मार्ग को छोड़ कर मत चलें (सोमिनः) ऐश्वर्ययुक्त होते हुवे (वयं यज्ञात्) [मा प्रगाम] हम यज्ञ को छोड़ कर मत चलें। (अरातयः) अदानभाव (नः अन्तः मा स्थुः) हमारे अन्दर न ठहरें।

*

* *

---

१ देखो गीता ३.१२।

२ अराति का अर्थ शत्रु प्रसिद्ध है—इसका शब्दार्थ 'दान न देना' है।

७ चैत्र

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षद् अति द्विषः ।

ऋ० १०.१८७.१। अथर्व० ६.३४.१॥

विनय

हे मनुष्य ! क्या तू अब चाहता है कि तू द्वेष से पार हो जाय ? क्या तू अपने मनुष्य भाइयों से द्वेष कर करके, और बदले में उनके द्वेष को पा पाकर अब तंग आ चुका है ? तूने अपने सुख में बाधक समझ न-जाने कितनों से द्वेष किया है, पर जितना ही तूने उनसे द्वेष किया है—वैर का बदला वैर से दिया है—क्या उतना ही वह द्वेष बढ़ता नहीं गया है ? ओह, इस बदले की, प्रतिद्वेष की प्रक्रिया से द्वेष इतना बढ़ता गया है कि तू आज अपने बनाये एक द्वेष-सागर में घिर गया है।

यदि तू अब पूरा व्याकुल हो चुका है और चाहता है इस द्वेष-चक्र से पार हो जाय तो तू उठ और जगत् में व्यापक अपने उस अग्निदेव तक अपनी वाणी को पहुँचा, जो कि सब मनुष्यों की कामनाओं को पूरा करनेवाला है। अरे, वह तो 'वृषभ' है, हम पर करुणा करके कामनाओं को बरसा रहा है। केवल उस तक अपनी आवाज़ पहुँचाने की देर है कि वह तेरी कामना पूरी कर देगा। यदि यह तेरी इच्छा हार्दिक है तो निश्चय से तेरी प्रार्थना, तेरी पुकार, वेग से, प्रकृष्टता से वहाँ पहुँचेगी। यदि वाणी को प्रकृष्टता से प्रेरित करने का हममें सामर्थ्य हो तो प्रार्थना की वाणी उस अग्निदेव को पहुँचकर उससे क्या नहीं करा सकती, किस कामना की पूर्त्ति नहीं करा सकती। पर हमारी कामना को पूरी करने की सामर्थ्य उसी में है—केवल उसी में है। वही हमें द्वेष-सागर से पार करेगा। इसलिये तू अपने सुख में बाधक समझ कर अब किसी से द्वेष न कर, किन्तु सुख के बरसानेवाले उस प्रभु से प्रार्थना कर और फिर देख कि द्वेष कहाँ है। प्रार्थना द्वारा उस प्रभु के सम्मुख पहुँचते ही सब द्वेष समाप्त हो जायगा।

शब्दार्थ—

(क्षितीनां) मनुष्यों के (वृषभाय) अभीष्टों को बरसानेवाले (अग्नये) अग्नि प्रभु के लिये (वाचम्) अपनी वाणी को (प्र ईरय) प्रकृष्टता से प्रेरित कर। (स) वह (नः) हमें (द्विषः) द्वेषों से (अति पर्षत्) पार लगावेगा।

*

* *

६ चैत्र

तुंजे तुंज़े य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः ।
न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥

ऋ० १.७.७॥ अथर्व०२०.७०.१३॥

विनय

भगवान् ने मुझ पर कितनी कृपा की है, इसका मैं वर्णन नहीं कर सकता। जब जिस वस्तु की आवश्यकता मेरे कल्याण के लिये हुई तभी वह वस्तु कहीं से आ मिली। वह कल्याण-स्वरूपिणी माता पुत्र की एक-एक ज़रूरत को पूरी तरह जानती हुई चिन्ता-पूर्वक देती जाती है। ओह, उसकी करुणा अपार है। इस भगवान् के जगत् में रहनेवाले बहुत से मनुष्य न जाने क्यों संतोष का परित्याग किये रहते हैं और

घबराते हैं। वे या तो प्रत्येक प्राणी को दी गई भगवान् की स्वाभाविक देनों का मूल्य नहीं समझते या वे अकृतज्ञ हैं। पहली बात ही ठीक समझी जा सकती है। पर मैं तो यही कहूँगा और बिना थके कहता जाऊँगा कि पाप से हटानेवाले उस परमैश्वर्य युक्त इन्द्र भगवान् ने मुझे निहाल कर दिया है, मुझे पाप और दुःख के गर्त्त से उबारा है। एक के बाद एक ऐसा आन्तरिक सुख मिलता गया है कि मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। जब-जब उसकी ये देनें याद आती हैं तो आनन्दाश्रुओं से मैं गद्गद् हो जाता हूँ और मेरे मुख से कृतज्ञता भरी वाणी से उसके गुणगान निकलने लगते हैं; स्तोत्र गाता जाता हूँ पर तृप्ति नहीं होती। ओह, यह अपूर्ण वाणी हृदय के अनुभूत भाव को पूर्णतया कहाँ प्रकट कर सकती है! फिर भी मैं पूर्णता की आशा में बार-बार गाता जाता हूँ—गाता जाता हूँ—पर स्तुति कभी पूरी नहीं होती। यह कभी अनुभव नहीं हो पाता कि उसकी दिल भर के स्तुति हो गयी। ओह, उसकी स्तुति का कौन पार पा सकता है! "अपार तेरी दया, अपार तेरी दया।"

शब्दार्थ—

(तुंजे तुंजे) एक एक दान पर मैं (वज्रिणः इन्द्रस्य) पापवर्जक इन्द्र की (ये उत्तरे स्तोमाः) अधिक अधिक स्तुति करता जाता हूँ उन सबसे भी (अस्य सु स्तुतिं) उसकी स्तुति का पार (न विन्धे) नहीं पाता हूँ।

* * *

१० चैत्र

आत एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥

ऋ० १०.५७.४॥

विनय

हे मनुष्य ! जो तू इतना निर्बल, हतोत्साह और शिथिल हो गया है इसका कारण तेरे मन की निर्जीवता है । तेरा मन निर्जीव हो गया है, मानों तुझमें मन रहा ही नहीं है । तेरे रोग का और कोई कारण नहीं है । तू अपनी इस मन्दता को—निर्बलता को—दूर करने के लिये यों ही आप्राकृतिक दवायें खाता फिरता है । इनसे कुछ नहीं बनेगा । "बहम का इलाज

लुक़मान के पास भी नहीं है ।" ज़रा बहम को छोड़कर अपने अन्दर उस जगद्व्यापक मन की धारा को प्रविष्ट होने दे जो कि सब संसार में व्यापक है और सब संसार को चला रही है—प्रत्येक मनुष्य के मन को हिला रही है । उस मनोमय धारा को तू जितना अपने अन्दर ग्रहण करेगा उतना तेरा मन सजीव होता जायगा । तब तू फिर से ठीक तरह "क्रतु"—कर्म— कर सकेगा, तेरे अन्दर "दक्ष"—बल—आजायगा और तुझमें एक नये जीवन का संचार हो जायगा । और जगत् को प्राण देने वाले जो सूर्य देव हैं उनका दर्शन करता हुआ—उनसे प्राण लेता हुआ—तू दीर्घ आयु तक जीवित रहेगा । यह सब मनः शक्ति के प्रवेश का चमत्कार है । अतः हमारी तो परमात्मा से यही प्रार्थना है कि तुझ में मनःशक्ति का प्रवेश हो । इसी में तेरा कल्याण है । मनः शक्ति के बिना तो अन्य भी किसी उपचार से लाभ नहीं उठाया जा सकता । अतः मन ही को बढ़ा, मन ही को जगा, मन ही को चैतन्य कर ।

शब्दार्थ—

(मनः) मन का (ते) तुझमें (पुनः) फिर (आ एतु) प्रवेश हो जावे । जिससे कि तू (क्रत्वे) कर्म करने लगे (दक्षाय) तुझ में बल आजाय (जीवसे) जीवन आ जाय (ज्योक् च) और तू चिरंजीवी होता हुआ (सूर्यं दृशे) निरन्तर सूर्यदर्शन करता रहे ।

*

* *

११ चैत्र

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥

ऋ० २.४१.१२॥ अथर्व० २०.५७.१०॥

विनय

मैं डरता क्यों हूँ ? इस परमेश्वर की (इन्द्र की) सृष्टि में रहते हुए तो किसी भी काल में, किसी भी देश में भय का कुछ भी कारण नहीं है । क्या मैं अपने शत्रुओं से डरता हूँ? मेरा तो इस इन्द्र की सृष्टि में कोई शत्रु नहीं होना चाहिये । मेरा कोई शत्रु है ही नहीं । हाँ, एक अर्थ में पाप करनेवाले मनुष्यों को शत्रु कहा जा सकता है, क्योंकि पाप करना परमात्मा से शत्रुता करना है—पाप करना ईश्वरीय शासन का विद्रोह करना है । पर ऐसे पाप करनेवाले भाई से भी मुझे डरने की क्या जरूरत है ? यह ठीक है कि ऐसे पाप करनेवाले भाई तब मुझे अपना शत्रु समझ लेंगे जब कभी कि उनके पाप का विरोध करना मेरा कर्त्तव्य हो जायगा और तब वे मुझे अपना शत्रु मानकर नाना प्रकार से सताने—कष्ट देने—को भी उद्यत होंगे । पर उस पापी भाई के सताने से भी मेरा क्या बिगड़ेगा, वह तो बिचारा स्वयं परमात्मदेव का मारा हुआ है । परमात्मा तो स्वभावतः 'शत्रून् विजेता' हैं । उससे शत्रुता करके अर्थात् पाप करके कौन बचा रह सकता है ? यदि यह विश्वास पक्का हो जाय कि परमात्मा 'शत्रून् जेता' है तो अज्ञानी पापी

पुरुषों की तरफ़ से आये हुवे बड़े से बड़े सन्तापों का, घोर से घोर अत्याचारों का भी भय हट जाय। ऐसा विचार थोड़ी देर के लिये आने पर ही एकदम निर्भयता हो जाती है। और फिर उसे सचमुच 'विचर्षणि' समझ लेने पर तो कोई भय रहता ही नहीं। देखो, वह "विचर्षणि" परमेश्वर सब प्राणियों के सब कर्मों को ठीक-ठीक देखता हुआ पाप और पुण्य का फल दे रहा है। वह ठीक ढंग से ठीक समय हरेक पाप का विनाश कर रहा है—पाप को परास्त कर रहा है। तो मुझे डरने की क्या ज़रूरत है ? मुझे तो कोई दुःख-क्लेश तभी मिलेगा यदि मेरा ही कोई पापकर्म उदय होगा। नहीं तो किसी अन्य मनुष्य की चाहना से मुझे क्लेश कभी नहीं हो सकता है। और यदि मेरे अपने ही पाप-कर्मों के कारण कोई क्लेश आता है तो वह तो आना ही चाहिये। उसे मैं खुशी से सह सहकर निष्पाप और उर्ऋण होता जाऊँगा। वह क्लेश उस 'शत्रु' का भेजा हुवा नहीं है, किन्तु मेरे प्यारे परमेश्वर का भेजा है, उसका तो मुझे स्वागत करना चाहिये। एवं इस संसार में—चारों दिशाओं में, मेरा अब कोई दुःख दे सकनेवाला शत्रु नहीं रहा है। जब से प्रभु को 'विचर्षणि' और 'शत्रून् जेता' जान लिया है तब से मैं अभय होगया हूँ—सब तरफ़ से अभय हो गया हूँ—किसी दिशा से कोई भय नहीं। अभय, अभय।

शब्दार्थ—

(इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर, मुझे (सर्वाभ्य आशाभ्यः परि) सब दिशाओं से (अभयं करत्) अभय कर दे। (शत्रून् जेता) जो कि परमेश्वर शत्रुओं को जीतनेवाला है। (विचर्षणिः) और सब कुछ [हर एक प्राणी के हर एक कर्म को] पूरी तरह देखने वाला है।

———

१२ चैत्र

आ त्वा रम्भं न जिव्रयो ररम्भा शवसस्पते ।
उश्मसि त्वा सधस्थ आ ॥

ऋ० ८.४५.२० ॥

विनय

हे भगवन् ! म बुड्ढा हूँ और तुम मेरी लाठी हो । तुम मेरे सहारे हो । मेरा इस जन्म का यह देह चाहे वृद्ध न दीखता हो, पर मैं सच्चे अर्थ में जीर्ण हूँ, पुराना हूँ अतएव अनुभवी हूँ । मैं न जाने कितनी योनियों में फिरा हूँ—सब संसार भोग चुका हूँ । पर अब मैं तुम्हें "शवसस्पते" करके सम्बोधन करता हूँ । क्योंकि मैंने सुदीर्घ अनुभव से जान लिया है कि सब बलों के स्वामी तुम्हीं हो । मैंने कभी बड़ा धनाढ्य होकर धनबल का अभिमान किया है, किसी समय यह समझा है कि मेरे साथ इतना बड़ा भारी दल है, सो जो मैं चाहूँ कर सकता हूँ इस तरह दलबन्दी के बल को भी आज़-माया है, कभी अपने बुद्धि-बल, चतुराई-बल के मुकाबिले में

सब दुनिया को हेच समझा है । शरीर-बलों और शस्त्र-बलों का तो कहना ही क्या है ! पर इतने लंबे, अनगिनत योनियों के सुदीर्घ अनुभवों के बाद जीर्ण होकर—पुराना होकर अब समझा है कि सब बलों के स्वामी तो तुम हो । इसलिये अब और सब बलों का सहारा छोड़कर एक तुम्हारा सहारा पकड़ लिया है । हे मेरे एक-मात्र बल ! तुम मुझ से अब क्षणभर के लिये भी मत दूर होओ । अब मैं यदि क्षण भर के लिए भी तुमको भूल जाता हूँ—अपने मानसिक विचार नेत्र के सामने से क्षण भर के लिये भी तुम्हें ओझल पाता हूँ—तो मै व्याकुल हो जाता हूँ—एक दम निस्सहाय हो जाता हूँ । अतः अब तो यही सतत कामना है कि तुम सदा ही मेरे सामने और मेरे साथ ही बने रहो । बुड्ढे की लाठी जब आँखों के सामने पड़ी हो—पर उसकी पहुँच के परे पड़ी हो—तब तो उसका सहारा न पा सकते हुवे उसका दीखना बुड्ढे के लिये और भी दुःखदायक हो जाता है । इसलिये हे मुझ वृद्ध की लाठी ! हे मुझ निर्बल के बल, हे मेरे एक मात्र सहारे ! तुम अब सदा मेरे साथ रहो—सधस्थ बने रहो । तुम से ज़रा भी दूर होकर अब मैं नहीं रह सकता ।

शब्दार्थ—

(शवसः पते) हे सब बलों के स्वामी ! (जिव्रयः) बुड्ढा पुरुष (रम्भं न) जैसे डंडे को (त्वा) उस तरह तुझको मैंने (आररम्भ) अवलम्बन कर लिया है । और अब मैं (त्वा) तुझे (सधस्थे) अपने समान स्थान में (आ) आमने सामने—आँखों के सामने (उश्मसि) चाहता हूँ—देखना चाहता हूँ ।

*

* *

१३ चैत्र

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादं अतन्द्राः॥

ऋग्वेद० ८. २. १८॥ अथर्व० २०. १८.३॥

विनय

आलस्य मनुष्य का बहुत बड़ा शत्रु है। हम जो नित्य पाप करते हैं उनमें से बहुतों का कारण मन की कुटिलता नहीं होता किन्तु बहुत बार केवल हम आलस्य व सुस्ती के कारण पापी बनते हैं। एवं बहुत से अत्यन्त लाभकारी कार्यों को शुरु करके केवल आलस्य से हम उन्हें छोड़ देते हैं और आत्म-कल्याण से वंचित हो जाते हैं। अतः आलस्य करनेवाले लोग कभी परमात्मा के प्यारे नहीं हो सकते। यों कहना चाहिये कि परमात्मा के देवता आलसियों को नहीं चाहते, क्योंकि आलसी लोग देवों के चलाये इस संसार-यज्ञ में उनको सहयोग नहीं दे सकते। परमात्मा अपने इन देवों द्वारा जगत् में परिपूर्ण व्यवस्था रखते हैं—इन द्वारा पूरा नियमन, अनुशासन (Discipline) चला रहे हैं। भूल, ग़लती, अनुचितता, अपराध, पाप का ठीक नियमानुसार हमें दण्ड मिलता रहता है—बेचैनी रोग, व्यथा, वेदना, क्लेश, मृत्यु आदि द्वारा हमें शिक्षा दी जाती रहती है कि हम परमात्मा की आज्ञाओं का उल्लंघन न करें। ये देवता इस अनुशासन को—बिल्कुल अतन्द्र

होकर—बिल्कुल भूल-चूक से रहित होकर—कर रहे हैं। ये सृष्टि के देव उस सत्वगुण के बने हुवे हैं जो कि तमः को जीतकर रजः को अपने वश में किये हुवे हैं। अतः आलस्य प्रमाद करनेवाले तमोगुणी (तमोगुण से दबे हुवे) मनुष्य देवों के प्यारे कैसे हो सकते हैं ? अतः उन्हें देव बार-बार प्रमादों के लिये दण्ड दे दे कर—उन्हें पुनः पुनः ठोकरें मारते हुवे—जगाते रहते हैं। परमात्मा के देव जो यह जगत् रूपी यज्ञ चला रहे हैं उसी के अनुसार—उसकी अनुकूलता में—जो भी कुछ कर्म मनुष्य करता है वह सब यज्ञ-कर्म ही है। मनुष्य को इस यज्ञार्थ-कर्म के सिवाय और कोई कर्म नहीं करना चाहिये। वही कर्म शुभ है, पुण्य है, यज्ञिय है, जिस द्वारा इस संसार के कुछ अच्छे, ऊँचे और पवित्र बनने में सहायता व सहयोग मिलता है। इस तरह का कोई भी कर्म करना इस संसार-यज्ञ के लिये सोम-रस का सेवन करना है। ज़रा देखो—इन देवों के प्यारे लोगों को देखो—जो कि अपने प्रत्येक कर्म द्वारा संसार यज्ञ के संवर्द्धक, पोषक इस सोम-रस को पैदा करते हुवे और अपने इस कर्त्तव्य में सदा जागृत, कटिबद्ध, संनद्ध रहते हुवे देव तुल्य जीवन बिता रहे हैं।

शब्दार्थ—

(देवाः) देव लोग (सुन्वन्तं) यज्ञ कर्म करते हुवे की (इच्छन्ति) इच्छा करते हैं। (न स्वप्नाय स्पृहयन्ति) निद्राशील सुस्तों को नहीं चाहते। (अतन्द्राः) स्वयं आलस्यरहित ये देव लोग (प्रमादं) ग़लती, भूल करनेवाले का (यन्ति) नियमन करते हैं।

* *

*

१४ चैत्र

जीवान्नो अभिधेतन आदित्यासः पुरा हथात् ।
कद्ध स्थ हवनश्रुतः ॥

ऋ० ८. ६७. ५॥

विनय

हे आदित्य देवो ! दौड़ो । हमें बचाओ । मौत हमारे सामने मुँह खोले खड़ी है । अगले ही क्षण में हम उसके ग्रास होने वाले हैं । भोगों को भोगते हुवे तो हमें मालूम न था कि ये आसानी से भोगे जाते हुवे भोग एक दिन भोक्ता बनकर हमें खाने के लिये आवेंगे । उस समय हम खुशी से अपने को इन विषयों के बन्धन-जाल में बाँधते गये, यह न अनुभव किया कि हम मृत्यु के जाल में बँध रहे हैं । पर अब इस समय का—यह मृत्यु मुख में जाने का—एक क्षण, पश्चात्ताप-मय यह एक क्षण, शेष सारे बीते हुवे जीवन काल के मुकाबिले

में खड़ा है। बस यह ही एक क्षण है इस बीच, हे आदित्यो! मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। सुना है तुम जगदीश्वर की अखण्डनीय शक्तियाँ हो, तुम बंधन-जाल से छुड़ानेवाली शक्तियाँ हो, तुम प्रकाश देनेवाली शक्तियाँ हो। वो तुम कहाँ हो? मेरी पुकार क्यों नहीं सुनते? क्षण भर में दम निकलना चाहता है। तुम तो 'पुकार सुननेवाले' (हवनश्रुत्) प्रसिद्ध हो। तुमने बड़े-बड़े पापियों के हार्दिक पश्चात्ताप के करुण-क्रन्दनों को सुना है और उन्हें अन्तिम समय में भी उबारा है। क्या यह मेरा इस समय का पश्चात्तापमय रुदन भी हृदय से निकला रुदन नहीं है? तो फिर तुम क्यों नहीं सुनते, क्यों नहीं दौड़ कर मुझे बचाते? क्या अगले क्षण जब मैं मर चुकूँगा, मेरा विनाश पूर्ण हो चुका होगा, मेरी ही समाप्ति हो चुकी होगी, तब आओगे? तब क्या बनेगा। ओह! यदि मेरा उबारना अभीष्ट है तो ये जो जीवन के दो-चार पल शेष हैं इन्हीं में आ पहुँचो। दौड़ो, मुझे बचाओ, मुझे बचाओ।

शब्दार्थ—

(आदित्यासः) हे आदित्यो! (अभिधेतन) दौड़ो (जीवान् नः) हम जीते रहतों के पास (हथात् पुरः) हमारे मारे जाने से पहिले ही दौड़ो। (हवनश्रुतः) हे पुकार सुननेवालो! (कद्ध स्थ) तुम कहाँ हो?

*

* *

१५ चैत्र

तरत् स मन्दी धावति धारा सुतस्यान्धसः ।
तरत् स मन्दी धावति ॥

ऋ० ९.५८.१॥ साम० पू. ६.१.२.४॥

विनय

हे दुःख और पाप से तरना चाहनेवाले भाइयो ! देखो, कोई हैं, जो कि तर गये हैं। इस दुस्तर दीखनेवाले संसार-महासागर से तरा जा सकता है—सचमुच तरा जा सकता है। पर तरता वह है जो कि "मन्दी" है। क्या तुम भगवान् की भक्ति-स्तुति में रमनेवाले हो ? क्या इस भजनरस से तुम्हारा अन्तःकरण तृप्त हो गया है तुम्हारा अपना आन्तर (अन्दर) आनन्द से परिपूर्ण हो गया है अर्थात् तृप्त होकर तुम्हें संसार की अब अन्य किसी वस्तु की—किसी भी वस्तु की—कामना नहीं रही है ? क्या तुम ऐसे मस्त हो गये हो ? ऐसे आत्माराम हो गये हो ? "मन्दी" होने के लक्षण तो ये ही हैं। देखो, ऐसे "मन्दी" तरते जा रहे हैं और तर गये हैं।

यह अवस्था कैसे प्राप्त होती है ? जब भजन करने से अन्दर सोई पड़ी हुई शक्ति जागती है तो वह प्राण, वाणी और मन को उज्जीवित करती हुई ऊपर की तरफ़ चढ़ने लगती है। हठ-योगियों की परिभाषा में इसे कुण्डलिनी का जागरण और प्राणोत्थान कहते हैं। इस कुण्डलिनी का वास्तविक जागरण

ही 'तरना' शुरू करना है। प्राण की धारा मूलाधार से उठकर ऊपर चढ़ने लगती है, हैमवती-शक्ति नाचती कूदती हुई, भजन-स्तुति करती हुई—मार्ग में प्राण, वाणी, मन के अद्भुत चमत्कार दिखाती हुई—ऊपर, अपने शिवरूप स्वामी की तरफ़ चढ़ने लगती है। यह आध्यान अर्थात् मानसिक-चेतना से युक्त प्राणधारा के रूप में क्रमशः ऊपर जाती हुई अनुभूत होती है। यही उत्पन्न किये "अन्धस्" (सोम) की धारा है जिसके साथ-साथ आत्मा ऊँचा होता जाता है। इसी धारा के साथ 'मन्दी'-नामक भक्त की ऊर्ध्वगति होती है। प्रसिद्ध सात लोक सब अन्दर हैं। उन्नत होता हुवा आत्मा इन सब लोकों को पार करता हुवा सत्यलोक में पहुँच कर पूर्ण-स्वतन्त्र हो जाता है—बिल्कुल पार तर जाता है। शिर के सत्यलोक में प्राण, वाणी, मन आदि शक्ति जाकर ठहर जाती है और समाधि हो जाती है। इस प्रकार देखो! "मन्दी" (भगवान् का भक्त) दुःख-सागर को तर जाता है—ऊपर पहुँच जाता है। अहो! इस पुण्य घटना का विचार करना—इसे कल्पना की आँखों से देखना—भी कितना ऊँचा उठानेवाला है! "तरत् स मन्दी धावति", "तरत् स मन्दी धावति।"

शब्दार्थ—

(मन्दी) जो भक्ति, स्तुति करनेवाला, स्वयं तृप्त, आनन्दमग्न पुरुष होता है (स) वह (तरत्) तर जाता है (स) वह (सुतस्य) उत्पन्न की गई (अंधसः) आध्यानयुक्त प्राण व वाणी की (धारया) धारा के साथ (धावति) ऊपर वेग से उठता जाता है। (स मन्दी) वह आनन्द तृप्त (तरत्) तर जाता है, (धावति) ऊर्ध्वगति द्वारा ऊपर चढ़ जाता है।

१६ चैत्र

नयसीद्वति द्विषः कृणोष्युक्थशंसिनः ।
नृभिः सुवीर उच्यते ॥

ऋ० ६.४५. ६ ॥

विनय

"सुवीर"—सर्वश्रेष्ठ वीर—किसे कहना चाहिये ? अंत में तो प्रत्येक ही गुण की पराकाष्ठा भगवान् में है, परिपूर्ण वीरता का निवास भी उन्हीं में है । उनकी वीरता का अनुकरण करनेवाले मनुष्य, नर लोग, सच्चे पुरुष उन भगवान् को ही 'सुवीर' नाम से पुकारते हैं । पर उनकी वीरता कैसी है ?

अज्ञानी लोग समझते हैं कि अपने शत्रु, द्वेषी को नुकसान पहुँचाने में सफल हो जाना ही बहादुरी है । यह निरा अज्ञान है । क्रोध के वश में आ जाना तो हार जाना है । क्रोधवश होकर मनुष्य केवल अपने को विषयुक्त करता है और जलाता है । एवं क्रोधी अपने शत्रु का नाश क्या करेगा ? वह तो अपना नाश पहिले कर लेता है । ज्यों ज्यों हम अपने द्वेषी के लिये अनिष्ट-चिन्तन करते हैं, त्यों त्यों उसमें हमारे प्रति द्वेष और बढ़ता जाता है, उसका द्वेष, उसका शत्रुपना बढ़ता जाता है । उसे हानि पहुँचा लेने पर, उसके शरीर को चोट दे लेने पर, यहाँ तक कि उसे मार डालने तक पर भी उसकी शत्रुता नष्ट नहीं होती, वह तो और और बढ़ती जाती है । शत्रु के शरीर का, धन का, मान का एवं उसकी अन्य सब चीज़ों का हम बेशक नाश करने में सफल हो जाएँ पर उतना ही उतना वह शत्रु (असली शत्रु) बढ़ता

जाता है, उसका शत्रुपना बढ़ता जाता है। यह क्या हुवा? अतः वीरता (परमात्म देव से अनुकरणीय सच्ची वीरता) इसमें है कि हम उसकी बाहरी किसी चीज़ का नाश न करें (और क्रोध से हम अपना भी नाश न करें) किन्तु किसी तरह उसका—उसकी शत्रुता का—नाश कर दें। उसके अन्दर हम ऐसे घुसें कि वह हमारा शत्रु न रहे; वह मित्र हो जाय। बहादुरी इसमें है कि हम क्रोध को जीतकर, धैर्य रखकर अपने द्वेषी के द्वेषभाव को बिल्कुल निकाल डालें, ऐसा निकाल डालें कि वह हमारी निन्दा करना तो दूर रहे वह हमारी प्रशंसा के गीत गाने लगे। यह है शत्रु पर विजय पाना। पर ऐसी विजय पाने के लिये अपने में बड़ा भारी बल चाहिये—अपने में बलिदान की न ख़तम होनेवाली शक्ति चाहिये—बड़ा धैर्य चाहिये, बड़ी भारी वीरता चाहिये। हम भी परिमित अर्थ में बोला करते हैं कि वीर वह है जिसकी शत्रु भी प्रशंसा करें, पर हमें तो अपरिमित अर्थ में उस भगवान् की सुवीरता का आदर्श अपने सामने रखना चाहिये जिनके विषय में भक्त लोग समझते हैं कि आज संसार में जो लोग बिल्कुल उल्टे रास्ते जा रहे हैं वे भी एकदिन लौटकर भगवद्भक्त —भगवान् के प्रशंसक—बनेंगे और मुक्त होंगे। भगवान् की उस अपरिमित वीरता में से, हृदय-परिवर्तन करने की उनकी इस अनंत शक्ति में से और उनके अनन्त धैर्य में से हम भी कुछ ले लेवें, हम भी वीर बनें।

शब्दार्थ—

हे इन्द्र तू (द्विषः) द्वेष करनेवाले के द्वेषभाव को (इत् उ) निश्चय से (अति नयसि) निकाल डालता है। (तान्) तू उन्हें (उक्थ शंसिनः) अपना प्रशंसक (कृणोषि) बना देता है (नृभिः) सचे मनुष्यों से तू (सुवीर उच्यते) सुवीर कहाता है।

१७ चैत्र

रारन्धि नो हृदि गावो न यवसेष्वा ।
मर्य इव स्व ओक्ये ॥

ऋ० १. ९१. १३ ॥

विनय

हे देव ! तुम मेरे हृदय में आ विराजो, इसी में रमण करो। कहने को तो पहले बहुत बार ऐसी प्रार्थना मैंने की है तथा औरों को करते सुना है। पर शायद तब मैं न तो अपने हृदय को जानता था और न तुम्हें जानता था। तुम तो मुझमें तभी विराज सकते हो जब कि मेरा हृदय स्वार्थ से बिल्कुल साफ़ हो—सर्वथा निर्मल हो। इसीलिये अब मैंने अपने जीवन के लिये भगीरथ-यत्न से हृदय को पवित्र किया है। मैंने झूठ ,हिंसा, कुटिलता, असंयम आदि विकारों के मैल को ही नहीं निकाला है किन्तु बड़े यत्न से क्षण-क्षण आत्म-निरीक्षण करते हुवे राग और द्वेष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म मल को भी खुरच खुरच कर निकाला है और अतएव अब इसमें भक्ति-स्रोत भी खुल गया है। इसीलिये मैं अब तुम्हें बुलाने की हिम्मत

करता हूँ। हे मेरे जीवनसार! मैं कहता हूँ कि तुम मेरे हृदय में ऐसे आ जावो जैसे कि गौवें जौ के हरे खेत में प्रसन्नता से आकर खाने का आनन्द लेती हैं क्योंकि मैंने भी न केवल अपने हृदय को तुम्हारे योग्य स्वच्छ बनाया है किन्तु इसमें यह भक्ति का रस भी जुटा रखा है। मेरे इस हार्दिक प्रेम का रसास्वादन करने के लिये तुम यहाँ आओ। मेरा प्रेम देखता है कि अब तुम ही मेरे प्राणों के प्राण हो, तुम्हारा स्पर्श मेरा जीना है और तुम्हारा हट जाना मेरी मौत है। इसलिए मेरा हृदय पुकारता है कि तुम मुझ में आकर सदा रमण करो। क्या मेरा सच्चा ज्ञानमय प्रेम तुम्हें यहाँ नहीं खींच लायगा? नहीं, मैं भूल करता हूँ तुम मेरे हृदय में न केवल आओ किन्तु आकर इस तरह बस जाओ जैसे मनुष्य अपने घर में रहता है व रमण करता है। मेरी भक्ति आर्त्त, जिज्ञासु व अर्थार्थी की भक्ति नहीं है क्योंकि मैंने अपने हृदय से अब 'अहंकार' को भी सर्वथा निकाल दिया है। अब यह शरीर तेरा है, यह हृदय अब तेरा अपना घर है। "मैं" 'मम' सब यहाँ से लोप हो गया है। हे आत्मा की आत्मा सोम! सर्वथा विशुद्ध इस हृदय में अपना यथेच्छ रमण करो। यह तुम्हारा घर हो गया।

शब्दार्थ—

(गावः न यवसेषु) जैसे जौओं के बीच में गायें आकर रमण करती हैं, आनन्दित होती हैं और (मर्यः स्व ओक्ये इव) जैसे मनुष्य अपने निजी घर में बसता है वैसे ही (त्वं) तू (नः हृदि) हमारे हृदय में (आ) आकर (रारन्धि) सदा रमण करो व बस जाओ।

*

* *

१८ चैत्र

बृबदुक्थं हवामहे, सृप्रकरस्न मूतये ।
साधु कृण्वन्तं अवसे ॥

ऋ० ८.३२.१०॥

विनय

हे परमेश्वर ! हम तुम्हें रक्षा के लिये पुकारते हैं। इस संसार में बहुत से क्लेश, दुःख और आपत्ति हम पर आती हैं, बहुत से भय उपस्थित होते रहते हैं उस समय में हे परमेश्वर! हम तुम्हें ही याद करते हैं। तुम्हारे सिवा क्लेश में हम और किसे पुकारें ! क्योंकि हम जानते हैं कि तुम ही एक मात्र रक्षक हो, जब तुम रक्षा करना चाहते हो तो सैकड़ों विपत्तियों के बादलों को एक क्षण भर में उड़ा देते हो, सैकड़ों बन्धन एक दम में काट देते हो, जहाँ कोई भी रक्षा का उपाय नहीं नजर आता, अन्तिम नाश ही दीख रहा होता है, बच जाने की हम कोई कल्पना तक नहीं कर सकते होते, वहाँ पर भी तुम्हारे अदृश्य हाथ पहुँचे हुवे हमारी रक्षा कर देते हैं। तुम्हारे रक्षा करनेवाले हाथ हर जगह और हर वक्त पहुँचे हुवे हैं। इस लिए हे सृप्रकरस्न ! हम कभी भी आशा नहीं छोड़ते कि तुम हमें बचा न लोगे। अतः हम तुम्हें पुकारते जाते हैं। आखिर

तुम यदि नहीं भी रक्षा करते तो भी हम अशान्त नहीं होते क्योंकि हम जानते हैं कि तुम्हारी अरक्षा में भी रक्षा छिपी होती है। हे देव! हमें अटल विश्वास है कि तुम कल्याण ही करने वाले हो। तुमसे अकल्याण कभी हो ही नहीं सकता है। हम नहीं समझ पाते हैं कि स्पष्ट दीखनेवाली अमुक आपत्ति किस तरह कल्याण के रूप में बदल जायगी, कैसे हमारा विनाश भलाई के लानेवाला होगा, पर अनुभवों द्वारा अन्त-स्तल पर यह विश्वास निहित है कि तुम अपनी हर एक घटना द्वारा हम लोगों का भला ही कर रहे हो और आख़िर तुम हमारी पालना करोगे, हमें बचा लोगे। हमारा अत्यन्त विनाश तुम कभी नहीं होने दे सकते। अतः हम तुम्हें ही रक्षा के लिये पुकारते हैं। सदा ऐसे विलक्षण ढंग से सब का कल्याण करते हुवे तुम हमारी निश्चित रक्षा करनेवाले हो; हमारे कल्याण के लिए अपने रक्षक वाहुओं को प्रत्येक क्षण में और प्रत्येक स्थान में फैलाए बैठे हो; तुम्हारे सिवाय मनुष्य के लिये और कौन स्तुत्य है? मनुष्य और किसके गीत गावें? तुम्हारी ही स्तुति कर वह अपनी वाणी को कृतकृत्य कर सकता है।

शब्दार्थ—

(बृबदुक्थं) स्तुति करने योग्य इन्द्र को (ऊतये) रक्षा के लिये (हवामहे) हम पुकारते हैं जो इन्द्र (सृप्रकरस्नं) सब जगह फैली हुई भुजाओंवाला है (अवसे) जो पालन पोषण के लिये (साधु कृण्वन्तम्) कल्याण ही करनेवाला है उस इन्द्र को।

* *

*

१६ चैत्र

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥

ऋ० १.३.११.॥

विनय

जिन्होंने अपने जीवन को यज्ञ बनाया है वे जानते हैं कि इस जीवन-यज्ञ को जहाँ अन्य (परमेश्वर के शक्तिरूप) देवों ने धारण कर रखा है वहाँ सरस्वती देवी ने भी इसे धारण किया हुवा है। यह देवी दो कार्य कर रही है। यह एक तो 'सूनृता' वाणी को प्रेरित करती है और दूसरी सुमतियों को जगाती रहती है। सूनृता उस वाणी का नाम है जो कि सच्ची और प्यारी होती है। केवल प्रिय वाणी तो किसी काम की है ही नहीं किन्तु केवल सच्ची वाणी बोलना भी अधूरा है। सत्य के साथ वाणी में अहिंसा भी रहे तभी वाणी पूरी होती है और तब वाणी में प्रेम भी आ जाता है। सरस्वती देवी हम लोगों में ऐसी सत्यमयी और मधुर वाणी को प्रेरित करती रहती है। इस कारण हमारा जीवन-यज्ञ अभग्न चलता है। और इसके अतिरिक्त यह सरस्वती देवी इस यज्ञ के एक ऐसे अन्य गहरे और सूक्ष्म अंग को भी निबाहती है, जब कि यह हममें निरन्तर श्रेष्ठ, सुन्दर, कल्याणकर, बुद्धि (ज्ञान) को जगाती है। जब

जीवन-यज्ञ ठीक चल रहा होता है तो अन्दर सरस्वती देवी हममें शुभ, सबकी कल्याणकारी, हितकारी बुद्धियों को ही उत्पन्न करती हुई और हमारी वाणी से सच्चे और प्रेममय वचनों का ही प्रवाह बहाती हुई होती है। अतः जब कभी हमारे मन में कोई दुर्मति उत्पन्न होवे, हमारा मन किसी के लिये अहित व अनिष्ट सोचे तो समझ लो कि सरस्वती देवी ने हमें छोड़ दिया है। जब कभी हम अनृत या कठोर (हिंसक) वचन बोलें तो समझ लो कि सरस्वती देवी हमारे जीवन की यज्ञशाला से उठ गई है। हमें फिर सुमति और सुनृता वाणी का संकल्प करके अपने हृदयासन में सरस्वती देवी को बिठलाना चाहिये, और इस यज्ञ-भंग के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

हम प्रायः समझते हैं कि सरस्वती देवी का प्रसाद पढ़ना-लिखना आ जाना है। पर यह नहीं है। यदि किसी के हृदय में निरन्तर सुमति की ही धारा बहती हो और उसकी वाणी से सत्यमय और मधुर वचनों का ही अमृत झरता हो तो वह मनुष्य चाहे बिल्कुल निरक्षर हो तो भी उसमें निश्चय से सरस्वती का वास है, जो कि उसके जीवन-यज्ञ को धारे हुवे चला रही है।

शब्दार्थ—

(सूनृतानां) सच्ची और प्यारी वाणी को (चोदयित्री) प्रेरित करती हुई (सुमतीनां) और अच्छी बुद्धियों को (चेतन्ती) चेताती हुई (सरस्वती) सरस्वती (यज्ञं) यज्ञ को (दधे) धारण किये हुवे है।

*

* *

२० चैत्र

केतुं कृण्वन् अकेतवे पेशं मर्या अपेशसे ।
समुषद्भिः अजायथाः ॥

ऋ० १.६.३.। साम०उ०६.३.१४।अ०२०.६९.११॥

विनय

यह शरीर तो मर्य है, मुर्दा है । इस समय भी मुर्दा है। जब अर्थी पर उठाकर इस शरीर को जलाने के लिये ले जाया जाता है उस समय यह शरीर जैसा मुर्दा होता है वैसा ही यह अब भी है । पर इस समय यह मुर्दा इसलिये नहीं दीखता चूँकि इन्द्र (आत्मा) ने अपनी चेतनता, अपनी सुन्दरता इसमें बसा रखी है ।

हे इन्द्र आत्मन् ! जब यह शरीर सुषुप्तावस्था में होता है तब तुम ही इसमें से अपनी जागरण शक्तियों को समेट लेते हो, अपने में खींच लेते हो । अतः तुरन्त हमारा चलना फिरना, बोलना आदि सब व्यापार बन्द हो जाता है । सदा चलने-वाले मन के भी सब संकल्प, विकल्प बन्द हो जाते हैं। यह शरीर जड़वत् हो जाता है । और जब तुम फिर अपनी जागरण-रश्मियों को शरीर में फैला देते हो तो फिर मनुष्य उठ बैठता है, सोचना विचारना शुरु हो जाता है; मनुष्य फिर चलने बोलने लगता है । इस "अकेतु" शरीर में फिर चेतना दीखने लगती है—उसका खोया हुआ जागृत रूप फिर

उसमें आ जाता है। हे इन्द्र! सुषुप्ति में तो तुम अपनी जागरण शक्तियों को केवल समेट लेते हो, पर जब तुम इस शरीर को छोड़ ही देते हो तब क्या होता है? तब यह शरीर अपने असली रूप में—मिट्टी के ढेर के रूप में—दीख जाता है। न इसमें ज्ञान है और न रूप है। हे इन्द्र! इस मिट्टी के बर्त्तन में अमृत होकर तुम ही भरे हुवे हो। इस मिट्टी में जो रूप, सुडौलता आ गई है, सुन्दर अवयव-संनिवेश होगया है यह तुम्हारे व्यापने से हुवा है और इस मिट्टी की मूर्ति में शव की अपेक्षा जो इतनी चेतना दिखाई देती है, वह तुम्हारे समाने से ही हुई है। यह शरीर जो मुर्दा होने पर इतना अपवित्र समझा जाता है कि इसे छू लेने से स्नानादि शौच करना पड़ता है वही असल में मुर्दा शरीर, हे परम-पावन इन्द्र! इस समय तुम्हारे समाये रहने के कारण, तुम्हारे पवित्र संस्पर्श से इतना पवित्र हुवा हुवा है। तुम्हारा इतना अद्भुत माहात्म्य है। मनुष्य तुम्हारे इस माहात्य को क्यों नहीं देखता?

आज हम स्पष्ट देख रहे हैं कि इन सब मुर्दा जड़ शरीरों में चेतनता लाते हुवे और इन अरूपों में रूप सौन्दर्य प्रदान करते हुवे तुम ही अपनी जागृति शक्तियों के साथ उदय हुवे हुवे हो; तुम ही आये हुवे हो।

शब्दार्थ—

हे इन्द्र आत्मा! तू (मर्याः) इस मरण-शील (अकेतवे) और ज्ञानरहित अवस्थावाले शरीर में (केतुं कृण्वन्) ज्ञान और जीवन लाता हुआ (अपेशसे) तथा इस अरूप असुन्दर शरीर में (पेशं कृण्वन्) रूप सौन्दर्य लाता हुवा (उषद्भिः) अपनी जागरण शक्तियों के साथ (सं अजायथाः) उदय होता है—पुनर्जागरण और पुनर्जन्म में—उदय होता है।

२१ चैत्र

त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा राजन् अघायतः।
न रिष्येत् त्वावतः सखा ॥

ऋ० १.९१.८॥

विनय

हे सोमदेव ! तुम्हीं वास्तव में हमारे राजा हो। यद्यपि संसार के मनुष्य-राजा भी जान माल आदि की रक्षा करने के लिए ही होते हैं, पर वे अल्पशक्ति राजा चाहें जितनी हकूमत की शक्ति रखते हों तो भी हमारी पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकते हैं। पर मुझे अपने जान माल की ऐसी परवाह नहीं है, इनको तो मैं धर्म के लिए खुशी से जाने दूँगा। अतः हत्यारे और लुटेरों के आक्रमण से रक्षा पाने की मुझे कोई चिन्ता नहीं होती। मुझे तो चिन्ता है पाप के आक्रमण से रक्षा पाने की। इस पाप के आक्रमण से ही बचने की मुझे सख्त ज़रूरत है। और इस आक्रमण से तो, हे मेरे अन्तरतम के राजा ! मुझमें अन्दर से हकूमत करनेवाले स्वामी !

हे असली राजा ! तुम्हीं चारों तरफ से मुझे बचा सकते हो। बड़े से बड़ा श्रेष्ठ राजा भी अपने बाहिरी सुप्रबन्ध से हमें पाप के आक्रमण से सर्वथा सुरक्षित नहीं कर सकता। इसीलिए हे राजाओं के राजा परमेश्वर ! तुमसे हम प्रार्थना करते हैं कि तुम हमें पाप चाहने वालों से सब तरफ से रक्षित करो। हे सर्वशक्तिमान् ! मैं तो अन्दर तुमसे सम्बन्ध जोड़ चुका हूँ; तो मुझे अब किसका डर है ? तुझ जैसे से अपना सम्बन्ध जोड़ने वाला—तुझ सर्वशक्तिमान् राजा की मैत्री पाया हुवा तेरा सखा—कभी नष्ट नहीं हो सकता। तेरी सर्वशक्तिमान् शरण में पहुँचे हुवे को नाश कर सकने वाली वस्तु कहाँ से आवेगी ? पर ऐसा तेरा सखित्व पाने के लिये—और ऐसा अमूल्य सखित्व पाकर उसको क़ायम रखने के लिए—बस, पाप से सुरक्षित रहने की जरूरत है। इसलिए हमारी बारम्बार यही प्रार्थना है कि हमें पाप से चारों तरफ़ से बचाइये—हमें पाप से सब तरफ़ से बचाइये।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! (राजन्) हे राजा ! हे असली राजा ! (त्वं नः) तू हमें (अघायतः) पाप चाहनेवालों से (विश्वतः) चारों तरफ़ से (रक्षा) रक्षा कर। (त्वावतः सखा) तेरे जैसे से मित्रता रखने वाला (न रिष्येत्) कभी नष्ट नहीं होता।

*

* *

२२ चैत्र

प्रियं नो अस्तु विश्पतिर्होता मन्द्रो वरेण्यः ।
प्रियाः स्वग्नयो वयम् ॥

ऋ० १.२६.७। सा०उ०८.१.१॥

विनय

हे मनुष्य भाइयो ! हम अपने परम आत्मा को, परम अग्नि को भूल गये हैं। हम यह भी भूल गये हैं कि हम स्वयं भी वास्तव में आत्मा रूप हैं, आत्माग्नि हैं। इसीलिये हम इस संसार की परम तुच्छ धन, दौलत, माल, असबाब, पुत्र, वधू, सुख, आराम, शरीर तथा सौन्दर्य आदि विनश्वर वस्तुओं से तो इतना प्रेम करने लग गये हैं, इनमें इतने आसक्त, लिप्त और अनुरक्त हो गये हैं कि हमें इस गन्दी दलदल में से अब ऊपर उठना असम्भव सा हो गया है। पर जो हमारा असली स्वामी सखा और सब कुछ है, परम पवित्र प्रभु है, उसे हम दिनरात के चौबीसों घण्टों में से कुछ क्षणों के लिये भी स्मरण नहीं करते। अब तो हम होश सँभालें, जागें और अपने परम प्यारे अग्नि प्रभु को अपना लें। वही हम सब प्रजाओं का एकमात्र पति है, स्वामी है, वही हमें सब सुखों का देनेवाला 'मन्द्र' है, वही एकमात्र है जो कि हम सब का वरणीय है और वही है जो कि अपने परम यज्ञ द्वारा हम प्रजाओं को सब कुछ दे रहा है। अरे प्यारो ! हम उसे छोड़कर कहाँ प्रेम करने लगे ? सचमुच

हमने अपनी प्रेमशक्ति का अभी तक घोर दुरुपयोग किया है। क्या प्रेम जैसी पवित्र वस्तु हमें इन अशुचि, तुच्छ, अनित्य वस्तुओं में रखने के लिये ही दी गई थी। आओ, अब तो हम अपने प्रेम के लक्ष्य को पा लेवें और उस मन्द्र 'विश्पति' को, वरेण्य 'होता' को अपना प्यारा बना लेवें, अपना प्रेम समर्पण कर देवें।

किन्तु इस तरह प्रेमपथ पर चल देने पर हे भाइयो! हमें भी उसे रिझाना होगा, उसे प्रसन्न करना होगा उसके प्रेम को अपने प्रति आकर्षण करना होगा, अर्थात् हमें भी उसका प्यारा बनना होगा और उसके प्यारे तो हम तभी बन सकते हैं जब कि हम "स्वग्नि" बन जाँय, उत्तम प्रकार की आत्मायें बन जाँय। अतः आओ, हम सब मनुष्य अपने उस परम प्यारे के लिये अपनी आत्माओं को शुद्ध करें। उस बृहत् अग्नि के लिये अपनी अग्नियों को उत्तम प्रकार की बना लेवें। अब हमारी आत्माग्नि से विश्वप्रेम की सुन्दर किरणें ही प्रसारित होवें, हमारी बुद्धि-अग्नि में से सत्य की ज्योति ही निकले, हमारी मानसिक अग्नि सर्व कल्याण के उत्तम विचारों में ही प्रकाशित हुआ करें, और हमारी चित्ताग्नि से पवित्र इच्छायें व भावनायें ही उठें। इस प्रकार हम उत्तम अग्नि वाले हो जाँय। क्योंकि इसी प्रकार वह हमारा प्यारा हमसे प्रसन्न होगा। इसी प्रकार हमने अपने प्यारे को रिझाना है।

शब्दार्थ—

वह (विश्पतिः) हम प्रजाओं का स्वामी (मन्द्रः) आनन्द देने वाला (वरेण्यः) और वरणीय (होता) दाता अग्नि (नः) हमें (प्रियं अस्तु) प्यारा हो जाय तथा (वयं) हम भी (स्वग्नयः) उत्तम अग्नियों वाले होकर (प्रियाः) उसके प्यारे हो जाँय।

२३ चैत्र

गूहता गुह्यं तमो, वि यात विश्वमत्रिणम् ।
ज्योतिष्कर्त्ता यदुश्मसि ॥

ऋ० १.८६. १० ॥

विनय

हे मरूत देवो ! हे प्राणो ! हम अँधेरी गुफा में पड़े हुवे हैं। चारों तरफ़ अँधेरा ही अँधेरा है । इस अँधेरे में खा जानेवाले राक्षस हमें सता रहे हैं, हमें खाये जा रहे हैं; इन्हें भगाओ । इन सब "अत्रियों" को हमसे दूर कर दो । हमें जो कुछ चाहिए वह प्रकाश है । हमें प्रकाश दो, इस गुफा में चारों तरफ़ प्रकाश फैला दो ।

मैं पंचकोशों की अँधेरी गुहा में रह रहा हूँ—शरीर प्राण मन आदि के पाँच शरीरों में बंद पड़ा हुवा हूँ—अपने आपको भूल इन शरीरों को आत्मा समझ रहा हूँ। इसीलिए काम, क्रोध, लोभ आदि राक्षस मुझे खाये जा रहे हैं। ये काम, क्रोध आदि अज्ञान में ही रह सकते हैं। आत्मान्धकार में ही ये फलते फूलते हैं। इसलिए हे प्राणो ! तुम मेरे गुहा के अंधकार को विलीन कर दो, अंधकार के हटने पर ये 'अत्रि' अपने आप ही यहाँ से भाग जायँगे । जब हममें आत्म-ज्योति फैल जायगी सब भूतों, सब प्राणियों में, फिर आत्मा दिखाई देने लगेगा

तो हम किस के प्रति क्रोध करेंगे ? जब हमारा प्रेम सर्वव्यापक हो जायगा तो हम किस एक में कामासक्त होंगे ? लोभ किस लिये करेंगे ? ओह, आत्म-ज्योति का प्रकाश हो जाने पर ये क्षुद्र "अत्रि" कहाँ ठहर सकते हैं। आत्म-ज्योति वह ज्योति है जिससे कि सहस्रों सूर्य, चन्द्र और विद्युतें प्रकाशित हो रही हैं, जिस परमोज्वल-ज्योति के सामने हज़ारों सूर्य की इकट्ठी ज्योति भी फीकी है—वह प्रकाश हमें दो। हम उस प्रकाश के पाने के लिए तड़फ रहे हैं। उस प्रकाश के पा जाने पर तो सब कुछ हो जायगा, हृदय का अंधकार मिट जायगा और इन खा जाने वालों से हमारी रक्षा हो जायगी। हे प्राणो! तुम प्रकाश के लानेवाले हो। हम जानते हैं कि तुम्हारे जागने पर प्रकाशावरण का क्षय हो जाता है।[1] इस सत्य में हमें विश्वास है। इसलिए हे प्राणो! हम तुमसे विनय कर रहे हैं। तुम हममें समा कर हमारे प्रकाश का द्वार खोल दो।

शब्दार्थ—

(मरुतः) हे प्राणो ! (गुह्यं तमः) गुहा के अँधेरे को (गूहत) विलीन कर दो (विश्वं अत्रिणम्) सब खा जानेवालों को (वि यात) भगा दो। (यत् उश्मसि) जिसे हम चाह रहे हैं उस (ज्योतिः) ज्योति को (कर्ता) हमारे लिये कर दो।

*

* *

१—योग दर्शन में प्राणायाम का फल बतलाते हुवे कहा है "ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्" अर्थात् प्राणायाम सिद्ध होने पर प्रकाश का आवरण हट जाता है—अनन्त प्रकाश खुल जाता है।

२४ चैत्र

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा ।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥

ऋ. १.२५.१० ॥

विनय

वरुण सम्राट् हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठा हुवा है। यह कितनी विचित्र बात लगती है; पर यह उतनी ही सच्ची है। असली साम्राज्य अन्दर ही है। बाहिर भी सच्चा सम्राट् वही हो सकता है जिसने पहिले अपनी प्रजाओं के हृदयों में सिंहासन प्राप्त कर लिया है। प्रजाओं के हृदयों में बिना घुसे कोई सच्चा सम्राट् नहीं बन सकता है। ठीक ठीक सच्चा शासन अन्दर घुसकर ही किया जा सकता है। इसीलिए इस सब ब्रह्माण्ड के एकमात्र अखण्ड सम्राट् जो वरुण देव हैं, वे हम प्रजाओं के अन्दर आकर बैठे हुवे हैं। उस असली सम्राट् के दर्शन के लिये यदि हम निकलें तो हमें बाहिरी सम्राटों के पास पहुँचने की तरह उनके पास पहुँचने के लिये कहीं बाहिर नहीं फिरना होगा। वे तो स्वयं हमारे अन्दर आकर बैठे हुवे हैं और इस लिये आकर बैठे हैं कि हमें साम्राज्य दे दें—'साम्राज्याय'। पर हम ऐसे मूर्ख हैं कि हमें कुछ ख़बर ही नहीं है। हम छोटी छोटी बातों पर हकूमत पाने के लिए—राज्य पाने के लिए बाहिर घूमते फिरते हैं, लड़ते झगड़ते, सत्यादि नियमों का

भंग करते, मारकाट करते फिरते हैं। पर यह नहीं जानते कि सर्वश्रेष्ठ (वरुण) राजा तो स्वयं हमें सारे संसार का बादशाह बनाने के लिये, विश्व का साम्राज्य देने के लिये अन्दर आकर बैठा हुवा है और प्रतीक्षा कर रहा है। हम उधर देखते ही नहीं।

पर जो उधर देखते हैं वे देखते हैं कि वे वरुण प्रभु "धृतव्रत" और "सुक्रतु" हैं—वे व्रतों को धारे हुवे हैं, उनके व्रत अटल हैं, उनके नियम कभी टूट नहीं सकते और वे शोभन कर्म ही करनेवाले हैं, उनसे कभी बुरा कर्म हो ही नहीं सकता है। हम भी यदि सत्य नियमों का कभी भंग न करने वाले और सदा शोभन कर्म करनेवाले हो जायँगे तो उसी क्षण हमें वह सच्चा-साम्राज्य मिल जायगा। वे महात्मा उस साम्राज्य को भोग रहे हैं जिनके लिये सत्य व्रतों का उल्लंघन और बुरा काम होना असंभव होगया है। वह वो साम्राज्य है जिसके प्रथम दर्शन होने पर सब कालों और सब देशों के इस महापद को प्राप्त महापुरुष चिल्ला उठते रहे हैं—"मैंने जो पाना था वह पा लिया,[१] "मैं बादशाह हो गया," "मैं तो अमृत हूँ।"[२]

सन्तों द्वारा प्राप्त किये गये इस महा साम्राज्य को "धृतव्रत" और "सुक्रतु" बनकर हम भी पा लेवें इसीलिए वे वरुण हमारे अन्दर बैठे हुवे हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं।

शब्दार्थ—

(वरुणः) वरुण (धृतव्रतः) अटल व्रतों के धारण कर्त्ता और (सुक्रतुः) सदा शोभन कर्म ही करनेवाले होकर (साम्राज्याय) साम्राज्य के लिये (पस्त्यासु आ) प्रजाओं के अन्दर आकर (निषसाद) बैठा हुवा है।

---

१ योगदर्शन १-१६ व्यास-भाष्य। २ तै० उपनिषद् शिक्षाध्याय १०-१

२५ चैत्र

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना ।
धियो विश्वा वि राजति ॥

ऋ० १.३.१२ ॥

विनय

ज्ञान की सच्ची जिज्ञासा होते ही यह अनुभव होने लगता है कि अरे, संसार में तो बड़ा ज्ञातव्य है; एक से एक अद्भुत विद्या है; जिस विषय में देखो उसी विषय में ज्ञान पाने का इतना क्षेत्र है कि मनुष्य कई जन्मों में भी उसका पार नहीं पा सकता। तब दीखता है कि मनुष्य के सामने न जाने हुवे ज्ञान का एक अनन्त समुद्र भरा पड़ा है। यह देखनेवाले मनुष्य नम्र हो जाते हैं, उन्हें ज्ञान का अभिमान नहीं रहता। ऐसे ही मनुष्य सरस्वती देवी की शरण में जाते हैं। सरस्वती देवी के झण्डे के नीचे आनेवालों को सबसे पहिले तो यही पता लगा करता है कि ज्ञेय अनन्त है, हमारे ज्ञातव्य संसार का पार नहीं है और हम तुच्छ लोग तो अपनी क्षुद्र इन्द्रियों और बुद्धि को लिये हुवे इस के एक किनारे खड़े हैं। विद्या देवी पहिले तो इस बड़े भारी समुद्र को ही हमारे लिए प्रकाशित करती है, इसके पार तो पीछे पहुँचाती है। पहिले हमें यह अनुभव होना चाहिये कि ज्ञेय अनन्त है। ज्ञान की अनन्तता तो हमें पीछे दीखेगी। सरस्वती देवी जिधर जिधर अपने "केतु" को—अपने झण्डे को—लेजाती है अर्थात् जिधर

जिधर अपनी प्रज्ञापक शक्ति को फिराती है, वहाँ-वहाँ पता लगता जाता है कि अरे, यह भी एक बड़ा उत्तम ज्ञेय-क्षेत्र है, यह भी एक बड़ा भारी ज्ञेय-क्षेत्र है। एवं हरेक क्षेत्र को हमारे लिये जगाती जाती है और फिर सब बुद्धियों को विशेष रूप से दीपित भी करती जाती है—अर्थात् जिस जिस वस्तु की गहराई में हम जाकर जानना चाहते हैं, उस उस वस्तु के तत्व को, उसके सच्चे स्वरूप को भी हमारे लिये चमका देती है। तब हम जिस विषयक बुद्धि पाना चाहें उसी विषय के ज्ञान को यह देवी हमारे लिये प्रदीप्त कर देती है। तभी अनुभव होता है कि सभी बुद्धियों में वही देवी प्रदीप्त हो रही है, वही चमक रही है, सर्वत्र उसी का राज्य है। सरस्वती देवी के सच्चे स्वरूप का या ज्ञान के आनन्त्य का (जिसके कि सामने ज्ञेय कुछ भी नहीं होता)[१] अनुभव उसी अवस्था में पहुँचने पर होता है।

अतः वे मनुष्य जिन्हें अभी तक यह भी प्रकट नहीं हुवा है कि हमें ज्ञान का एक बड़ा भारी समुद्र पार करना है, वे समझ लें कि उन पर सरस्वती देवी की कुछ भी कृपा नहीं हुई है और उनके लिए वह दिन तो बहुत दूर है जब कि सरस्वती देवी उनके लिए सब बुद्धियों को दीपित कर देगी।

शब्दार्थ—

(सरस्वती) ज्ञान देवी (केतुना) ज्ञान द्वारा, प्रज्ञापक शक्ति द्वारा (महः अर्णः) बड़े भारी ज्ञान-समुद्र को (प्रचेतयति) प्रकाशित करती है और (विश्वा धियः) सब प्रकाशित बुद्धियों को (विराजति) विशेषतया दीपित करती है।

१—तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्।
योग० सू० ४—३१॥

२६ चैत्र

अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति ।
कृतानि या च कर्त्वा ॥

ऋ० १.२५.११ ॥

विनय

इस संसार में हम बहुधा आश्चर्य चकित कर देनेवाली घटनाएँ होते देखा करते हैं। इनका करनेवाला कौन है ? वैसे तो प्रतिदिन होनेवाली बातों को भी यदि हम ध्यान से देखें तो हमको उनमें बड़ी अद्भुतता दीखेगी। ये अन्धकार और प्रकाश कितनी अद्भुत वस्तु हैं जिनका परिवर्तन हम रोज़ सायं प्रातः देखते हैं। नन्हें से बीज से बड़ा भारी वृक्ष बन जाना; अभी चलते, फिरते, हँसते, खेलते, दीखते मनुष्य का एक दम ऐसा सो जाना कि फिर वह कभी न जग सकेगा; जीव से जीव पैदा हो जाना; ये सब भी वास्तव में कितनी अद्भुत बातें हैं। परन्तु जब पृथ्वी आग बरसाने लगती है और ज्वालामुखी फटने से सैकड़ों शहर बरबाद हो जाते हैं; भूकंप आते हैं; बड़े-बड़े साम्राज्य देखते देखते मिट जाते हैं; थोड़े ही दिनों में एक मनुष्य सितारे की तरह ऊँचा, यशस्वी होजाता है या राजा रंक हो जाता है, तो इनमें अद्भुतता सभी अनुभव करते हैं। विज्ञान के आजकल के अद्भुत चमत्कारों को देखो; सिद्ध

साधु, सन्तों द्वारा हुई चकित कर देनेवाली बातों को देखो ! ये सब संसार के एक से एक बढ़ कर के अद्भुत हैं। इन सब अद्भुतों का करनेवाला कौन है ? हम लोग समझते हैं कि इनके करनेवाले मनुष्य हैं, मनुष्य की वैज्ञानिकशक्ति या संघशक्ति है; या कुछ भी नहीं है केवल प्रकृति का खेल है। पर जो "चिकित्वान्" (जानने वाले) हैं उन्हें तो सब तरफ़ इन अद्भुतों का करनेवाला वही इन्द्र (परमेश्वर) दीखता है। उसीसे ये सब संसार के आश्चर्य निकलते दीखते हैं। इन सब विविध आश्चर्यों को देखते हुवे उनकी दृष्टि सदा उस एक इन्द्र पर ही रहती है। उनके लिये फिर ये आश्चर्य कुछ आश्चर्य नहीं रहते। प्रभु तो "गूँगे को वाचाल करनेवाले और लँगड़े को भी पहाड़ लँघानेवाले" हैं ही। संसार में जो अद्भुत बातें हो चुकी हैं वे सब प्रभु की ही की हुई थीं कल जो अद्भुत घटना होनेवाली है, कोई तख़्ता पलटनेवाला है, वह भी उसी प्रभु की सहज लीला से ही होने वाला है। प्रभु की अपार लीला देखनेवाले ज्ञानी इसमें कुछ आश्चर्य नहीं करते, वे अद्भुत से अद्भुत घटना में भी कार्य-कारण भाव को देखते हैं।

अतः हे मनुष्य ! संसार के इन आश्चर्यों को देखकर चकित होना छोड़ दो किन्तु इनको देखकर इनके कर्त्ता को पहिचानो। उस नट को पहिचानो जो कि संसार को यह अद्भुत नाच नचा रहा है।

शब्दार्थ—

(चिकित्वान्) ज्ञानी पुरुष (कृत्वानि या च कर्त्वा) जो की जा चुकी हैं और जो की जायँगी (विश्वानि अद्भुतानि) उन सब अद्भुत बातों को (अतः) इस परमेश्वर से हुई (अभिविपश्यति) सब तरफ़ देखता है।

२७ चैत्र

त्वं च सोम नो वशो जीवातुं, न मरामहे ।
प्रियस्तोत्रो वनस्पतिः ॥

ऋ० १.९१.६ ॥

विनय

हे हृदयेश! हे देव ! हे सोम ! जब तुम्हारी इच्छा हमें जीवित रखने की है तब हमें कोई मार नहीं सकता। यह अन्धा, अज्ञानी संसार बहुत वार तेरे भक्तों से द्वेष करने लगता है और उन्हें सताता है और उन्हें मारना तक चाहता है। भक्त प्रह्लाद को मारने की कितनी चेष्टायें की गईं; भक्त मीरा की जान लेने के लिए राजा ने कई वार यत्न किया; भक्त दयानन्द को लोगों ने कई वार जहर दिया। पर तेरी इच्छा बिना कौन मर सकता है ? भक्त लोग इस तत्व को जानते होते हैं अतः वे आनन्दित रहते हैं। मरने से डरनेवाला यह संसार—तेरे ईश्वरत्व को न जाननेवाला यह संसार—यों ही भय-त्रास और मरणाशंका से मरा जाता है। पर भक्त देखते हैं कि जब तक

तेरी इच्छा नहीं है तब तक उन्हें कोई मार नहीं सकता और जब तेरी इच्छा होगी तब तो मरना भी उनके लिए उतना ही आनन्ददायक होगा जितना कि तेरी इच्छा से जीना आनन्ददायक है। ओह, इस ज्ञान के कारण वे भक्त जीवित ही अमर हो जाते हैं, अभिनिवेश के क्लेश से पार हो जाते हैं। वे संसार के किसी भयंकर से भयंकर वस्तु से भी न डरते हुवे, तेरे स्तोत्र गाते हुवे निर्भय फिरते हैं। प्यारे स्तोत्रों से तुझे रिझाना या तेरे स्तुतिगान से जगत् में भक्ति का प्रसार करना, यही उनका कार्य होता है। अपनी रक्षा व अरक्षा की चिन्ता वे तुझपर छोड़ बेफिक्र हो जाते हैं। तू तो संभजन करनेवालों की रक्षा करनेवाला मौजूद ही है। तो उन्हें क्या चिन्ता ? अहा, कैसी बेफ़िक्री और निरापदता की अवस्था है ! कैसी अमृत्युता (अमरता) का आनन्द है !

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोम ! (त्वं च) तुम यदि (नः) हमारे (जीवातुं) जीवित रहने की (वशः) इच्छा करते हो (न मरामहे) तो हम मर नहीं सकते। (प्रियस्तोत्रः) तुम प्रियस्तोत्रवाले हो और (वनस्पतिः) संभजन करने वालों के रक्षक हो।

*

* *

२८ चैत्र

आ हि ष्मा सूनवे पितापि र्यजत्यापये ।
सखा सख्ये वरेण्यः ।।

ऋ० १.२६.३ ।।

विनय

संसार में पिता पुत्र-वात्सल्य से प्रेरित होकर पुत्र के लिये क्या नहीं करता ? बन्धु, बन्धु के लिये जी जान से पूरी सहायता करता है, श्रेष्ठ मित्र अपने मित्र के लिये सब कुछ अर्पण करने को उद्यत रहता है। पर हे प्रभो ! तुम तो मेरे सब कुछ हो। तुम्हारे होते हुवे मुझे किसी चीज़ की क्यों कमी रहनी चाहिये। तुमसे मेरा जो सम्बन्ध है वह घनिष्ठ, अटूट सम्बन्ध है—उसे मैं किस नाम से पुकारूँ ? उस परिपूर्ण सम्बन्ध का वर्णन नहीं हो सकता। मैं संसार की भाषा में तुझे कभी पिता, कभी बन्धु, कभी सखा, पुकारता हूँ। पर हे प्यारे ! हे मेरी आत्मा ! इन शब्दों से मेरा तेरा वह सम्बन्ध व्यक्त नहीं हो सकता। जब मैं देखता हूँ कि तुम मेरे पैदा करने वाले और लगातार पालनेवाले हो, तब में अपनी भक्ति और प्रेम को प्रकट करने के लिये तुम्हें 'पिता पिता' पुकारने लगता हूँ और तुमसे पुत्र-वात्सल्य पाने के लिये रोने लगता हूँ। जब मुझे

तुम्हारे घनिष्ठ सम्बन्ध की याद आती है, उस अटूट सम्बन्ध की जो कि मेरा संसार में और किसी से भी नहीं है, तब मैं बन्धु-भाव में होकर तुमसे बातें करने लगता हूँ। और जब देखता हूँ कि मैं भी तुम्हारी तरह आत्मा हूँ और चेतन हूँ तुम भले ही मुझसे बहुत बड़े 'वरेण्य' होवो, तो मैं सखा बनकर तुम्हें 'वरेण्य सखा' नाम से सम्बोधन करता हूँ। हे प्रभो! तुम मुझे पुत्र मानो, बन्धु या सखा मानो, कुछ मानो, हर तरह मैं तेरा हूँ और तुम मेरे हो। हे मेरे! तो मुझ अपने को तुम कैसे छोड़ सकते हो? मैं अपूर्ण अशक्त बालक तेरा हूँ, इसलिये मेरी सहायता किये बिना तुम कैसे रह सकते हो? तुम परिपूर्ण हो, तुम्हें सदा मुझे देते रहने के सिवा और कार्य ही क्या है? यही मेरे लिये तुम्हारा यजन है—तुम मुझे देते रहो और मैं लेता रहूँ यही तुम्हारी तरफ़ से मेरा यजन है। तुमसे मेरा सम्बन्ध इसी रूप में कायम है। बड़ा छोटे को दिया ही करता है, इसलिये मैं क्या माँगू? मेरी जरूरत को समझना और पूरी तरह पूर्ण करना तुम स्वयं ही करोगे, हे मेरे! तुम स्वयं ही करोगे। बस, मैं तेरा हूँ, मैं तेरा हूँ, और क्या कहूँ; हे मेरे सर्वस्व! हे मेरे सब कुछ! मैं तेरा हूँ।

शब्दार्थ—

(पिता सूनवे) पिता पुत्र के लिये (हि स्म आयजति) सर्वथा सहायता प्रदान करता है; कमी पूरी करता है (आपिः आपये) बन्धु बन्धु के लिये (वरेण्यः सखा सख्ये) श्रेष्ठ मित्र मित्र के लिये सर्वथा सहायता प्रदान करता है।

* *

*

२६ चैत्र

यच्चिद्धि शश्वता तना देवं देवं यजामहे।
त्वे इत् हूयते हविः।

ऋ० १.२६.६ ॥ साम० उ. ७.३.१ ॥

विनय

हे देवाधिदेव, एक देव ! इस जगत् में दो प्रकार के नियम काम कर रहे हैं। एक शश्वत् सनातन नियम हैं जो कि सब काल और सब देशों में सत्य हैं, सदा लागू हो रहे हैं। दूसरे वे नियम हैं जो कि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में ही सत्य हैं, जो कि स्थानिक हैं, स्वल्पकालिक होते हैं। शश्वत् नियमों के अनुसार चलने से हे प्रभो ! तुम्हारा पूजन होता है और अशश्वत् अविस्तृत नियमों के अनुसार चलने से केवल उस उस देव की तृप्ति होती है, उस उस देव का यजन होता है। पर हे प्रभो ! इस परिमित अशाश्वत संसार में रहनेवाले हम परिमित अशाश्वत शरीरधारी प्राणी तुम्हारा यजन भी सीधा कैसे कर सकते हैं ? हम तुम्हारा यजन इन देवों द्वारा ही कर पाते हैं। फिर तुम्हारे यजन में और इन देवों के यजन में भेद यह है कि हम जो यज्ञ विस्तृत और सनातन दृष्टि से (भावना से) करते हैं वह तो इन देवों द्वारा तुम्हें पहुँच जाता है और जो यज्ञ परिमित भावना से करते हैं वह इन देवों तक ही पहुँचता

है। यदि हम अग्नि-होत्र अपनी वायुशुद्धि के लिये करते हैं तो यह अग्नि व वायुदेवता का यजन है, पर यदि हम यही अग्नि-होत्र संसार चक्र को चलाने में अंगभूत बनकर करते हैं तो इस अग्नि-होत्र से तुम्हारा यजन होता है। यदि हम विद्या का संग्रह अपने सुख के लिये करते हैं तो यह सरस्वती देवी का यजन है पर यदि यह हमारा ज्ञान तुम्हारी ही प्राप्ति के प्रयोजन से है तो यह सरस्वतीदेवी द्वारा तुम्हारा पूजन है। इसी तरह अपनी मातृभूमि देवी का पूजन भी केवल स्वदेशोद्धार के लिये या जगत् हित के लिये दोनों तरह का हो सकता है। यहाँ तक कि यदि हमारे अपने देह की रक्षा, हमारा नित्य का भोजन खाना भी सचमुच तुम्हारे ही लिये है तो यह दीखनेवाली देह-पूजा भी असल में तुम्हारा ही यजन है। इस लिये सब बात भाव की है, हवि के प्रकार की है। हम सनातन और विस्तृत भावना से जिस भी किसी देव का यजन करते हैं, उन सब देवों के नाम से दी हुई हमारी हवि तुम्हें ही जा पहुँचती है। जब हमारा लक्ष्य तुम्हारी तरफ़ हो जाता है अतएव जब हमारा एक एक कार्य शश्वत् दृष्टि से सनातन नियमों के अनुसार होता है तब हमारे कर्म से जिस किसी भी देव की पूजा होती दीखती है, वह सब पूजा असल में तुम्हारे ही चरणों में पहुँच जाती है।

शब्दार्थ—

(शश्वता तना) सनातन और विस्तृत हवि से (यत् चित् हि देवं देवं) यद्यपि हम भिन्न भिन्न देवों का (यजामहे) यजन करते हैं (हविः) पर वह हवि (त्वे इत्) तुझमें ही (हूयते) हुत होती है तुझे ही पहुँचती है।

३० चैत्र

यमग्ने पृत्सु मर्त्यं, अवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः ॥

ऋ० १.२७.७॥

विनय

इस संसार में मनुष्य को प्रत्येक अभीष्ट फल पाने के लिये लड़ाइयाँ लड़नी पड़ती हैं। संसार में नाना प्रकार के संघर्ष चल रहे हैं। हे प्रभो ! जिस मनुष्य की तुम इन संग्रामों में रक्षा करते हो अर्थात् जिस तुम्हारे अनन्य भक्त को सदा तुम्हारी सहायता मिलती रहती है, उस मनुष्य को नित्य अक्षय अन्न प्राप्त होते हैं। उसे रोटी के सवाल के लिये कोई लड़ाई नहीं लड़नी पड़ती। वह इससे निश्चिन्त हो जाता है क्योंकि उसे एक नित्य अन्न मिल जाता है जिससे कि वह सदा ही तृप्त बना रहता है। वह जानता है कि जिस तूने उसे शरीर दिया है और जो तू उसके इस शरीर की नाना तरह से रक्षा कर रहा है, वही तू उसके इस शरीर को अन्न भी देता रहेगा। सब दुनियाँ के पशु-पक्षियों की चिन्ता करनेवाला तू उसके शरीर की भी खुद चिन्ता करेगा, नहीं तो शरीर को ही वापिस ले लेगा। वह जानता है कि अपने भक्तों के प्रति तेरी यह प्रतिज्ञा है "तेषां नित्याभियुक्तानां

योगक्षेमं भजाम्यहम्"। भक्तों के योगक्षेम करने की चिन्ता तूने अपने ऊपर ले रखी है। बस, यही ज्ञान है जिसके कि कारण वे निश्चिन्त रहते हैं—तृप्त रहते हैं। यही ज्ञान "नित्य अन्न" है। यह रोटी का अन्न तो अनित्य है। आज खाते हैं, कल फिर भूख लग आती है। इससे नित्यतृप्ति नहीं प्राप्त होती पर उस आत्म-ज्ञान को प्राप्त होकर वे सदा के लिये तृप्त हो जाते हैं। वे इसी आत्म-ज्ञान पर जीते हैं, रोटी पर नहीं जीते। अतएव रोटी न मिलने पर (शरीर छूटने पर) वे मरते भी नहीं, वे अमर हो चुके होते हैं। हम लोग रोटी पर ही जीते हैं और रोटी न मिलने पर मर जाते हैं। इस अनित्य अन्न (रोटी) के हमेशा मिलते रहने का प्रबन्ध करके यदि इसे नित्य बनाने का यत्न किया जाय तो भी यह नित्य नहीं बनता; नित्यतृप्ति-कारक नहीं रहता, क्योंकि हमेशा अन्न मिलते रहने पर भी यह शरीर एक दिन बुड्ढा होकर छूट ही जाता है। रोटी उस समय उसकी तृप्ति व रक्षा नहीं कर सकती है। अतः नित्यअन्न तो ज्ञान-तृप्ति ही है। हे परमेश्वर! इस युद्धमय संसार में तुम जिसके सहायक होते हो उसे यह शश्वत् अन्न देकर—इस शश्वत् 'इष्' का स्वामी बनाकर—तुम अमर भी कर देते हो।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने! तू (यं मर्त्यं) जिस मनुष्य की (पृत्सु अवाः) युद्धों में रक्षा करता है और (यं वाजेषु जुनाः) और जिसे युद्धों में सहायता करता है (सः) वह मनुष्य (शश्वतीः) नित्य सनातन (इषः) अन्नों को (यन्ता) वश करता है—प्राप्त करता है।

*

* *

याद रख

शुक्रोऽसि, भ्राजोऽसि, स्वरसि, ज्योतिरसि

अथर्ववेद २–११–१५

तू शुद्ध है, तू तेजरूप है,

तू आनन्दवाला है,

तू प्रकाश-

स्वरूप

है

वैशाख मास

वैशाख (मेष)

के लिये

प्राणदायक व्यायाम

गले तथा गर्दन की स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

पूर्व निर्दिष्ट (चैत्र मास में निर्दिष्ट) विधि के अनुसार खड़े होकर भुजायें फैलाइये। इस वार हथेलियाँ सामने की ओर हों। मुट्ठियाँ बाँधने के बाद सब माँसपेशियों (Muscles) को तान लीजिये। अब हाथों को धीमे-धीमे छाती के सामने यहाँ तक लाइये कि दोनों हाथ मिल जायँ। क्षण भर ठहर कर दोनों हाथों को फिर वापिस धीमे-धीमे ले जाइये। जब दोनों हाथों को छाती के सामने ले जा रहे हों तो उस समय दीर्घ श्वास अन्दर लीजिए जिससे कि जिस समय दोनों हाथ सामने मिलें उस समय तक फेफड़े पूरी तरह से भर जायँ और जब हाथों को वापिस ला रहे हों तो श्वास को धीमे-धीमे बाहिर निकालिये।

अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये। और इस तरह इस व्यायाम को ८–१० मिनट तक बार-बार कीजिये।

इस प्राणायाम को करते समय अपना मन, गर्दन तथा गले पर एकाग्र कीजिए और इनको अपने सामने स्वस्थ और सर्वथा नीरोग हालत में चित्रित कीजिये।

ध्यान—रुधिर मेरे गर्दन तथा गले में अच्छी तरह संचरण कर रहा है। इस प्राणायाम से मेरी एक-एक नाड़ी और इन अङ्गों का एक-एक घटक पुष्टि पा रहे हैं। सब जीर्ण परमाणु निकल रहे हैं और मुझे बहुत नवीन जीवन मिल रहा है।

इन अङ्गों को गौणतया श्रावण, कार्त्तिक और माघ की व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँच सकता है।

*

* *

ॐ

अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाऽविदत् जरितारम्।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥

ऋ० ७.८९.४ ॥

विनय

हे प्रभो ! क्या तुम्हें मेरी दशा पर तरस नहीं आता? संत लोग मेरे जैसों पर हँस रहे हैं और कह रहे हैं "मुझे देखत आवत हाँसी, पानी में मीन प्यासी।" सचमुच मैं तो पानी के बीच में बैठा हुवा भी प्यास से व्याकुल हो रहा हूँ। तेरे करुणा-सागर में रहता हुवा भी मैं दुःखी हूँ, संतप्त हूँ। जब कि तूने मेरी इच्छाओं को पूरा करने ही के लिये यह संसार ऐश्वर्यों से भर रखा है और तुम प्रतिक्षण मेरी एक-एक आवश्यकता को बड़ी सावधानी से ठीक-ठीक स्वयं पूरा कर रहे हो, तब मुझे अपने में कोई इच्छा या कामना रखने की क्या ज़रूरत है ? पर फिर भी न जाने क्यों मुझे अनेकों तृष्णायें लग रही हैं, सैकड़ों कामनायें मुझे जला रही हैं। हे नाथ ! मैं क्या करूँ ? इस विषम दशा से मेरा कौन उद्धार करेगा ? हे उत्तम शक्तिवाले ! मैं इतना अशक्त हो गया हूँ—इतना निर्बल हूँ कि सामने भरे पड़े हुवे पानी से भी अपनी प्यास बुझा लेने

मैं असमर्थ हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये, किन्तु कमज़ोरी इतनी है कि उसे मैं कर नहीं सकता। हे सच्चिदानन्दरूप ! मैं देखता हूँ कि आत्मा में सचमुच अपरिमित बल है, तो भी मैं उस बल को ग्रहण नहीं कर सकता। मैं जानता हूँ कि मेरी आत्मा अमूल्य ज्ञान-रत्नों का भंडार है, पर मैं इस रत्नाकर के बीच में बैठा हुवा भी ज्ञान का भिखारी बना हुवा हूँ। मैं जानता हूँ कि तुम मेरे आनन्दमय प्रभु सर्वदा सर्वत्र हो, सदा मेरे साथ हो, पर फिर भी मैं कभी आनन्द नहीं प्राप्त कर पाता। अरे, मैं तो अमृत के सागर में पड़ा मरा जा रहा हूँ। तेरी अमृतमय गोद में बैठा हुवा, स्वयं अमृततत्व होता हुवा बार-बार मौत के मुँह में जा रहा हूँ। हे नाथ ! अब तो मुझ पर दया करो, मुझे इस विषम अवस्था से उबार लो, अब तो मुझे सुखी कर दो। हे परमकारुणिक ! हे सुक्षत्र ! मुझे इतना क्षत्र—इतना बल—तो दे दो कि मैं सामने भरे पड़े जल का सेवन तो कर सकूँ; इससे अपनी तृष्णा शान्त करके सुखी तो हो सकूँ। हे शक्तिवाले ! जिस तूने मुझे इस पानी के सागर में रखा है वही तू मुझे इसके पीने का सामर्थ्य भी प्रदान कर जिससे कि मैं अपनी प्यास बुझा कर सुखी हो सकूँ। हे नाथ ! मुझे सुखी कर, सुखी कर, अब तो अपनी शक्ति देकर मुझे सुखी कर। यह तेरा स्तोता कब से चिल्ला रहा है, इसे अब तो सुखी कर दे।

शब्दार्थ—

(जरितारं) मुझ स्तोता को (अपां मध्ये तस्थिवांसं) पानी के बीच में बैठे हुवे भी (तृष्णा) प्यास (अविदत्) लगी है। (सुक्षत्र) हे शुभशक्तिवाले ! (मृड) मुझे सुखी कर (मृडय) सुखी कर।

२ वैशाख

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे ।
मृडा सुक्षत्र मृडय ॥

ऋ० ७.८९.३॥

विनय

हे मेरे तेजस्वी स्वामिन्! मुझ दीन की प्रार्थना सुनो। मैं इतना दीन हूँ, इतना अशक्त हूँ कि अपने कर्तव्य के विरुद्ध आचरण कर देता हूँ। मैं जानता हुवा कि यह करना नहीं चाहिये, फिर भी कर देता हूँ। मैं कई शुभ संकल्प करता हूँ कि मैं आज से नित्य व्यायाम करूँगा, नित्य सन्ध्या करूँगा पर दीनता वश इसे निभा नहीं सकता। हृदय में कई अच्छी अच्छी प्रज्ञायें (बुद्धियाँ) स्थान पाती हैं पर झूठे लोक लाज के वश मैं उन पर अमल करना नहीं शुरू करता। उसके विरुद्ध ही चलता जाता हूँ। यह मैं जानता होता हूँ कि मेरा "क्रतु" क्या है—कर्तव्य कर्म क्या है, अन्दर से दिल कहता जाता है कि तू उलटे मार्ग पर चला जा रहा है, फिर भी मैं दुर्बल, किस

भय का मारा हुवा, उसी उलटे मार्ग पर चलता जाता हूँ। हे दीप्यमान देव! हे मेरे स्वामी! तू मुझे वह तेज क्यों नहीं देता जिससे कि मैं निर्भय होकर अपने कर्तव्य पर डटा रहूँ, किसी के कहने से या हँसी उड़ाने से उलटा आचरण करने को प्रवृत्त न होऊँ, किसी क्लेश से डरकर अपने "क्रतु" को न छोड़ूँ। मुझे यह अवस्था बड़ी प्रिय लगती है पर दीनता वश मैं इस अवस्था को प्राप्त नहीं कर रहा हूँ। हे 'सुक्षत्र'! हे शुभ बलवाले! मुझे अदीन बना दे। मैं दीनता का मारा हुवा तेरी शरण आया हूँ। इस दीनताके कारण मुझसे सदा उलटे काम होते रहते हैं और फिर मेरा अन्तरात्मा मुझे कोसता रहता है; इसलिये मैं सदा बेचैन रहता हूँ। हे प्रभो! मुझे सुखी कर। मुझमें तेज देकर मेरी बेचैनी दूर कर। इस अशक्तता के कारण मैं जीवन में पग-पग पर असफल हो रहा हूँ—मेरा जीवन बड़ा निकम्मा हुवा जा रहा है। हे प्रभो! क्या कभी मेरे वे सुख के दिन न आवेंगे जब मैं अपने क्रतु पर दृढ़ रहा करूँगा, अपने संकल्पों पर अटल रहा करूँगा। हे मेरे स्वामी! ऐसी शक्ति देकर अब मुझे सुखी करदो, मुझे सुखी कर दो।

शब्दार्थ—

(समह) हे तजोयुक्त! (शुचे) हे दीप्यमान! (दीनता) दीनता, अशक्तता के कारण मैं (क्रत्वः) अपने क्रतु से, संकल्प से, प्रज्ञा से, कर्तव्य से (प्रतीपं) उलटा (जगम) चला जाता हूँ (सुक्षत्र) हे शुभ शक्तिवाले! (मृड) मुझे सुखी कर (मृडय) मुझे सुखी कर।

* *

*

३ वैशाख

यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन।
स धीनां योगमिन्वति।

ऋ० १.१८.७॥

विनय

हममें से बहुत से लोगों को अपनी अक्ल का—अपनी बुद्धि का—बहुत अधिक अभिमान होता है। वे समझते हैं कि अपनी अक्ल व चतुराई के बल पर हर एक कार्य में सिद्धि लेंगे, उन्हें अपने बुद्धि-बल के सामने कुछ भी दुःसाध्य नहीं दीखता। पर उन्हें यह मालूम नहीं कि बहुत वार उन्हें जि कार्यों में सफलता मिलती है वह इसलिये मिलती है कि अचान उस विषय में उनकी समझ (बुद्धि) प्रभु के बुद्धियोग अनुकूल होती है। असल में तो इस जगत् का एक छोटा बड़ा कार्य उस प्रभु के योगबल (बुद्धियोग) द्वारा सि हो रहा है। हम मनुष्यों की बुद्धि जब प्रभु के बुद्धियोग अनुकूल (जानबूझ कर अनुकूल होती है या अचानक होती है तब हमें दीखता है कि हमारी बुद्धि से किया क सफल हो गया। पर अचानक हुई अनुकूलता के का जो हमें अपनी सफलता का अभिमान हो जाता है, वह सर्व मिथ्या होता है। वह हमें केवल धोखे में रखने का कारण ब है और कुछ नहीं। पर जो जान बूझ कर प्राप्त की गई अनुकूल होती है वही सच्ची होती है। यदि मनुष्य अपने कार्यों

सिद्धि चाहता है—अपने कार्यों को सफल-यज्ञ बनाना चाहता है, तो उसे यत्न पूर्वक अपनी बुद्धि को प्रभु से मिलाना चाहिए, अपनी बुद्धि का प्रभु में योग करना चाहिये। हमारी बुद्धि प्रभु से युक्त होगई है—उसकी बुद्धि से जुड़ गई है कि नहीं—यह पूरी तरह से निर्णीत कर लेना तो हम अल्पज्ञ पुरुषों के लिये सदा संभव नहीं होता। हमारे लिये तो इतना ही पर्याप्त है कि हम युक्त करने का यत्न करते जायँ। प्रभु सत्यमय हैं अतः हमारी बुद्धि सदा सत्य और न्याय के अनुकूल ही रहे (हमारे ज्ञान में जो कुछ सत्य और न्याय है, बुद्धि उसके विपरीत ज़रा भी निर्णय न करे) यह यत्न करना ही पर्याप्त है। हमारी बुद्धि के प्रभु से योग करने का यत्न करते हुवे जब यह योग परिपूर्ण हो जाता है अर्थात् इस योग में प्रभु व्याप्त हो जाते हैं तभी वह कार्य सिद्ध हो जाता है। अतः हमें अपनी बुद्धियों का अभिमान छोड़कर, हमारे यज्ञ-कार्य में जो बड़े प्रसिद्ध अक्लमन्द लोग हैं उनकी बुद्धिबल पर भरोसा करना छोड़कर, नम्र होकर अपनी बुद्धियों को सत्य और न्याय तत्पर बना कर प्रभु से जोड़ने का यत्न करना चाहिये। हम चाहे कितने बुद्धिमान हों पर हमें सदा अपनी बुद्धि प्रभु से जोड़कर रखनी चाहिये। प्रभु के अधिष्ठान के बिना कोई भी यज्ञ-कार्य सफल नहीं हो सकता है।

शब्दार्थ—

(यस्मात् ऋते) जिस प्रकाशक प्रभु के बिना (विपश्चितः च न) बड़े बड़े बुद्धिमान् अक्लमन्द का भी (यज्ञः) यज्ञ (न सिद्ध्यति) सिद्ध नहीं होता (स) वह प्रभु (धीनां योगं इन्वति) बुद्धियों के योग में व्याप्त हो जाता है।

४ वैशाख

तमध्वरेषु ईडते देवं मर्त्ता अमर्त्यम् ।
यजिष्ठं मानुषे जने ॥

ऋ ५.१४.२ ॥

विनय

नाना प्रकार के यज्ञों में जो हम विविध कर्म करते हैं, असल में हम उन सब कर्मों द्वारा उस अमर देव का ही पूजन करते हैं। हम मरणशील मनुष्यों को अमर देव के ही यजन करने की ज़रूरत है। प्रत्येक यज्ञ-कर्म का प्रयोजन यही है, कि हम उस द्वारा मृत्यु से पार हो जाँय—अमर हो जाँय। यज्ञ मर्त्य को अमर बनाने के लिये ही हैं। पर हम यज्ञों द्वारा जिस अमर देव की पूजा करते हैं, वह अमरदेव कहाँ पर है? सुनो, वह अमरदेव प्रत्येक मानुष जन में हैं, प्रत्येक मनुष्य में 'यजिष्ठ' होकर विद्यमान है। हमें प्रत्येक मनुष्य में उसका यजन करना चाहिये। इसीलिये कहा जाता है कि यज्ञ सब मनुष्यों के हित के लिये होता है। यज्ञ का स्वरूप परोपकार है—एक एक मनुष्य का हितसाधन है। मनुष्यों की सेवा करना ही यज्ञ करना है। जितना हम मनुष्यों की सेवा करते हैं—मनुष्यों की पीड़ाओं और दुःखों को दूर करने के लिये निस्वार्थ भाव से यत्न करते हैं—उतना ही हमारे ये कार्य यज्ञ होते हैं। अग्निहोत्र द्वारा किये जानेवाले पुराने ऋतु यागादि भी

आधिदैविक देवों की अनुकूलता प्राप्त करके मनुष्य जनता के हित के प्रयोजन से ही किये जाते थे। पर इतने से भी यज्ञ का तात्पर्य पूरा नहीं होता। मनुष्यों की जिस किसी प्रकार की सेवा करने से यज्ञ नहीं हो जाता। हमने तो प्रत्येक मनुष्य में उस अमरदेव का ही यजन करना है। जिस सेवा से मनुष्य के अमरदेव की सेवा नहीं होती, वह सेवा सेवा नहीं है; वह सेवा यज्ञ नहीं है। भोगविलास की सामग्री जुटाने से बेशक मनुष्यों की तृप्ति होती दीखती है, पर यह मनुष्यों की सच्ची सेवा नहीं है। ऐसा 'परोपकार' यज्ञ नहीं, अयज्ञ है। इसी प्रकार भूखों को इस तरह अन्न देना, रोगियों को इस तरह औषध देना भी जो कि उनकी सच्ची उन्नति में—उन्हें अमर बनाने में—बाधक होवे, यह भी यज्ञ नहीं है। अर्थात् जनता की भौतिक-उन्नति साधना तभी तक यज्ञ है जब तक कि यह भौतिक उन्नति उनकी आध्यात्मिक उन्नति के लिये ही हो। आध्यात्मिक उन्नति करना ही—दूसरे शब्दों में—मर्त्य से अमर बनना है। आओ, हम मर्त्य अमरदेव की पूजा करें, मनुष्य की ऐसी सेवा करने में अपने को खो देवें जो सेवा उन के अमर बनने में सहायक हो।

शब्दार्थ—

(अध्वरेषु) सब यज्ञों में (मर्त्ता) हम मरणशील मनुष्य (तं अमर्त्यं देवं) उस अमर—कभी न मरनेवाले—देव की ही (ईडते) पूजा करते हैं जो कि देव (मानुषे जने) प्रत्येक मनुष्य के अन्दर (यजिष्ठ) यजनीय है।

* *
*

५ वैशाख

य एक इत् तमु ष्टुहि कृष्टीनां विचर्षणिः ।
पति र्जज्ञे वृषक्रतुः ॥

६.४५.१६॥

विनय

हे मनुष्य ! तू किस किस की स्तुति करता फिरता है ? संसार में तो एक ही स्तुति के योग्य है। संसार में हम मनुष्यों का एक ही पति, पालक और रक्षक है । हे मनुष्य ! तू न जाने किस किस को अपना पालक समझता है और उस उसकी स्तुति करने लगता है । कहीं तू रुपये पैसेवाले व्यक्ति को अपना रक्षक समझता है, कहीं तू किसी लब्ध-प्रतिष्ठ रोबदाबवाले व्यक्ति को अपना स्वामी बनाकर रहता है । कहीं तू किसी दार्शनिक व कवि की प्रज्ञा व प्रतिभा के स्तुति-गीत गाने लगता है, उनके ज्ञान व कवित्व पर तू मोहित रहता है। संसार में ऐसे भी मनुष्य बहुत हैं जो कि किन्हींजीवित व जीवरहित आकृतियों के सौन्दर्य को देखकर ही ऐसे मोहित हो जाते हैं कि उनका मन उस सौन्दर्य की प्रशंसा करता नहीं थकता। परन्तु संसार में मनुष्य की स्तुति के पात्र बहुत नहीं हैं । एक ही है, केवल एक ही है; और वह इन सब स्तुत्य वस्तुओं का एक स्रोत है । उसकी स्तुति न कर, इन शाखाओं की स्तुति करने से कल्याण नहीं होता—रक्षा नहीं मिलती । रूप रस आदि ऐन्द्रियक विषयों की स्तुति तो मनुष्य का विनाश ही करती हैं,

पालन कदापि नहीं। इनकी स्तुति तो अति अज्ञानी पुरुष ही करते हैं। पर जो संसार में हमारे अन्य रक्षा करने वाले बल, ज्ञान और आनन्द हैं (बली, ज्ञानी और सुखी लोग हैं) वे भी "विचर्षणि" "वृषक्रतु" नहीं है, उनमें ज्ञान और बल पर्याप्त नहीं है। संसार के ये सब बल, ज्ञान और आनन्द तो उस एक सच्चिदानन्द महासूर्य की क्षुद्र किरणें मात्र हैं। इन किरणों की स्तुति करने से अपने को बड़ा धोखा खाना पड़ेगा। हे मनुष्य ! ये संसार के क्षुद्र बल और ज्ञान मनुष्य का पालन न कर सकेंगे, ये बीच में ही छोड़ देंगे। इन में पूरा ज्ञान और बल नहीं है। अतः इनमें आसक्त होकर इनकी स्तुति मत कर। स्तुति उस 'मनुष्यों के एक पति' की कर, जो "विचर्षणि" होता हुवा पालक है और "वृषक्रतु" होता हुवा पालक है। वह एक-एक मनुष्य को विशेषतया देख रहा है। प्रत्येक मनुष्य को और उसके सब संसार को वह इतनी अच्छी तरह देख रहा है कि प्रत्येक मनुष्य यही अनुभव करेगा कि उस मेरे प्रभु को मानों एकमात्र मेरी फ़िक्र है। और उस पालक पति का एक-एक क्रतु, एक-एक संकल्प, एक-एक कर्म ऐसा 'वृष' अर्थात् बलवान् है कि उसकी सफलता के लिये उसे दुबारा संकल्प व यत्न करने की जरूरत नहीं होती। हे मूर्ख मनुष्य ! अपने उस 'पति' की ही स्तुति कर, उसकी सैकड़ों किरणों की स्तुति छोड़ कर उस असली सूर्य की ही स्तुति कर, उस एक की ही स्तुति कर।

शब्दार्थ—

(य एक इत्) जो एक ही है और जो (कृष्टीनां) मनुष्यों का (विचर्षणिः) सर्व द्रष्टा और (वृषक्रतुः) सर्वशक्तिमान् (पतिः) पालक (जज्ञे) हुवा है (तं उ) उसकी ही (स्तुहि) तू स्तुति कर।

६ वैशाख

महीरस्य प्रणीतयः पूर्वीरुत प्रशस्तयः
नास्य क्षीयन्त ऊतयः ॥

ऋ० ६.४५.३॥

विनय

मैं क्या बतलाऊँ प्रभु किन-किन अद्भुत ढंगों से मनुष्य को उन्नत कर रहे हैं। जब मनुष्य रोता और पीटता रहता है, जब उसके अन्दर ऐसे युद्ध चल रहे होते हैं कि उसे विफलता पर विफलता ही मिलती जाती है, पीछे से पता लगता है कि उस समय में, उन्हीं दिनों में, उसने अपनी उन्नति का बहुत बड़ा रास्ता तै कर लिया होता है। मनुष्य प्रभु की कल्याणमयी घटनाओं को नहीं समझ पाता कि उन घटनाओं से कभी—सुदूर भविष्य में—उसका कल्याण कैसे सधेगा। प्रभु के उन्नत करने-वाले मार्ग इतने महान् और विशाल हैं कि अल्पदृष्टि मनुष्य उन्हें पूर्णता में कभी नहीं देख सकता, अतएव वह कल्याण की तरफ जाता हुवा भी घबराया रहता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी प्रकृति—स्वभाव—के अनुसार अपने-अपने निराले ढंग से उन्नत व विकसित हो रहा है। जब मनुष्य अपने ही उन्नति-मार्ग को नहीं समझ पाता तो उसके लिये दूसरे मनुष्यों के विकास का दावा भरना कितना कठिन साहस है! उस अगम्य लीला वाले प्रभु की जिस 'प्रणीति' से

जिस व्यक्ति ने उन्नति पायी होती है वह व्यक्ति उसी रूप में उस प्रभु के गीत गाता फिरता है। इस तरह अनादिकाल से मनुष्य नाना प्रकार से उसकी प्रशस्तियाँ गाते आ रहे हैं और गाते रहेंगे। मनुष्य उसकी स्तुतियों का कैसे पार पावें ? भक्त पुरुष तो उस प्रभु की रक्षाओं का—रक्षा के प्रकारों का—ही अन्त नहीं देखता। प्रभु की रक्षण-शक्ति कभी क्षीण नहीं होती, वहाँ से रक्षणों का एक ऐसा सनातन प्रवाह बह रहा है कि वह सब मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट पतंगों की, सब स्थावर और अस्थावर जगत् की, एक ही समय में अकल्पनीय तरीकों से रक्षा कर रहा है। मनुष्य अपने पिछले कुछ अनुभवों के आधार पर सोचता है कि ऐसा होने से मेरी रक्षा हो जायगी अतः वह वैसा ही होने की प्रभु से प्रार्थना करता है और वैसी ही आशा करता है। पर इस बार प्रभु एक बिलकुल नये मार्ग से रक्षा करके मनुष्य को आश्चर्यचकित कर देते हैं। एवं नये से नये अकल्पनीय ढंगों से मनुष्य को प्रभु का रक्षण मिलता जाता है। तब पता लगता है कि प्रभु संसार का सब प्रकार से कल्याण ही कर रहे हैं। हम मानें या न मानें, पर वे तो हमें मारते हुवे भी हमारी रक्षा कर रहे हैं। अहो, देखो उस प्रभु के उन्नति-मार्ग महान् हैं, उसकी रक्षा के प्रकार अनन्त हैं, सब जाननेवाला संसार उसकी स्तुतियाँ ही स्तुतियाँ गाता है।

शब्दार्थ—

(अस्य) इस परमेश्वर के (प्रणीतयः) आगे ले जाने के—उन्नत करने के—मार्ग (महीः) बड़े हैं (उत प्रशस्तयः पूर्वीः) और इसकी प्रशंसायें सनातन हैं (अस्य ऊतयः न क्षीयन्ते) इसकी रक्षायें कभी क्षीण नहीं होतीं।

७ वैशाख

उत नः सुभगाँ अरि र्वोचेयु र्दस्म कृष्टयः ।
स्यामेत् इन्द्रस्य शर्मणि ।

ऋ० १.४.६ ॥

विनय

हे पापों और बुराइयों का उपक्षय करने वाले जगदीश्वर! तुम्हारी कृपा से मैं इतना उच्च हो जाऊँ कि मेरी अच्छाइयों का बखान मेरे शत्रु भी करें। मेरी तरफ़ से तो मेरा कोई शत्रु नहीं होना चाहिये, पर जो मेरे प्रतिद्वन्दी हैं—जिनके कि विचार मेरे विचारों से नहीं मिलते, जो कि मेरे वायुमण्डल से बिलकुल उलटे वायुमण्डल में रहते हैं—उन मेरे विरोधी भाइयों के लिये यह स्वाभाविक होगा कि उनके कानों में सदा मेरे अवगुण ही पहुँचे और उनका दृष्टिकोण ही ऐसा होगा कि उन्हें मेरी बुराइयाँ ही सहज में दिखाई देवें। पर हे प्रभो! यदि मेरा जीवन बिलकुल पवित्र होगा, मेरे आचरण में सर्वथा सचाई और शुद्धता होगी तो मेरे जीवन का उस दूरस्थ (विचारों से मुझ से दूर रहनेवाले) भाई पर भी असर क्यों न होगा? बस, हे प्रभो! मेरे अन्दर से सब बुराइयों का नाश करके मुझे ऐसा उच्च बना दो कि जो मुझसे इतनी विपरीत परिस्थिति में रहते हैं उन पर भी मेरी अच्छाई की, उच्चता की, छाप पड़े

बिना न रहे। सामान्य मनुष्य तो मुझे अच्छा कहेंगे ही, मेरी स्तुति करेंगे ही, पर इन विरोधियों के अन्तःकरण भी मेरी विशुद्धता को पहिचाने, यही इच्छा है। अपने सच्चे विरोधियों से जो यश मिलेगा वह खरा यश होगा, उसमें अत्युक्ति आदि का खोट न होगा। मित्र और उदासीनों से तो यश मिला ही करता है, उसमें कुछ विशेषता नहीं, उसका कुछ मूल्य नहीं।

पर हे प्रभो! इस यश को पाकर मैं फूल नहीं जाऊँगा, तुम्हें भूल नहीं जाऊँगा, बल्कि इस यश को भूला रहकर सदा तुम्हारी ही याद में सुखी रहूँगा। यह यश तो मेरी विशुद्धता की पहचान मात्र होगा, यह मेरे सुख का कारण कभी नहीं होगा। मेरा सुख तो तुम्हारी शरण में है। बाहिरी दुनियाँ चाहे मेरी घोर निन्दा करे, मुझे अपमानित करें तो भी मैं तेरे प्रसाद से पाये सुख से वैसा ही सुखी रहूँगा जैसा कि बाहिरी यश पाने पर हूँ। मेरा सुख या दुःख बाहिरी यश या अपयश पर अवलम्बित न होगा। हे प्रभो! ऐसी कृपा करो कि तुझ परमेश्वर की प्रसन्नता से पाये हुवे सुख में ही मैं सदा सुखी, आनन्दित और सन्तुष्ट रहूँ। बाहिरी यश द्वारा सुख पाने की चाह मुझे कभी उत्पन्न न हो, बाहिरी यश मिलते होने पर भी उस यश से सुख पाने की चाह मुझे कभी न उत्पन्न हो। मैं तुम्हारे ही सुख में रहूँ।

शब्दार्थ—

(दस्म) हे पापनाशक इन्द्र! (अरिः उत) शत्रु भी (नः सुभगान् [वोचेयुः]) हमारी अच्छाइयों को, हमारे सौभाग्यों को कहें (कृष्टयः वोचेयुः) सामान्य मनुष्य तो कहें ही। फिर भी हम (इन्द्रस्य इत्) तुझ परमेश्वर के ही (शर्मणि) सुख में (स्याम) रहें, होवें।

८ वैशाख

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः ।
प्रजावन्तः सचेमहि ॥

ऋ० १०.५७.६ ॥

विनय

हे सोम ! तुम्हारा दिया हुवा, तुम्हारी महाशक्ति का अं-
भूत मन हमारे शरीरों में विद्यमान है। इस मन का—
तुम्हारी अमूल्य देन का—हमें गर्व है। इस मन के कारण
हम मनुष्य हैं। इस मननशक्ति के कारण ही हम पशुओं
ऊँचे हुवे हैं। तो क्या अपने शरीरों में मन जैसी प्रबल श-
को धारण किये हुवे भी हम लोग तुम्हारे व्रत में न रह सकें
बेशक तुम्हारे व्रत का पालन करना बड़ा कठिन है। तु-
जगत् में जो उन्नति के नियम बनाये हैं, ठीक उनके अनु-
चलना बड़ा दुःसाध्य है। पर जहाँ तुमने ये कठिन नि-
बनाये हैं वहाँ तुमने ही हममें मन की अतुलशक्ति भी दी है
अतः हमारा दृढ़ निश्चय है कि हम अपनी मनःशक्ति
प्रयोग द्वारा सदा तुम्हारे व्रत में ही रहेंगे—कभी इसका
न करेंगे—कठिन से कठिन प्रलोभन व विपत्ति के समय में
मनःशक्ति द्वारा व्रत में स्थिर रहेंगे।

पर यह सब व्रत पालन किस लिये है ? यह तुम्हारी सेवा के लिये है । यह तुम्हारा दिया मन इसी काम के लिये है । हम चाहते हैं कि केवल यह हमारा मन ही नहीं, किन्तु हमारे मन की प्रजा भी तुम्हारी सेवा में ही काम आवे । मन में जो एक रचना-शक्ति (Creative Power) है, उस द्वारा प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह कुछ रचना कर जावे, कुछ निर्माण कर जावे । यह रचना ही मन की प्रजा है । यदि हम, हे सोम ! सर्वथा तुम्हारे व्रत में होंगे तो हमारी यह रचना (प्रजा) भी निःस्संदेह तुम्हारी सेवा के लिये ही होगी—इसी में व्यय होगी । एवं हम और हमारी प्रजा सदा तुम्हारी सेवा में रहें, तुम्हारी सेवा में ही अपना जीवन बिता देवें । अब यही संकल्प है, यही इच्छा है, यही प्रार्थना है ।

शब्दार्थ—

(सोम) हे सोमदेव ! (तनूषु) अपने शरीरों में (मनः) मन को, मनः शक्ति को (बिभ्रतः) धारण किये हुवे (वयं) हम लोग (तव व्रते) तुम्हारे व्रत में हैं—तुम्हारे व्रत का पालन करते हैं और (प्रजावन्तः) प्रजा सहित हम लोग (सचेमहि) तुम्हारी सेवा करते रहें ।

*

* *

६ वैशाख

अहमिद्धि पितुःपरि मेधामृतस्य जग्रभ ।
अहं सूर्य इवा जनि ॥

ऋ० ८.६.१०॥ साम० पू० २.२.६.८॥ अथर्व० २०.११५.

विनय

मैं सूर्य के सदृश हो गया हूँ । मैं अनुभव करता हूँ कि मनुष्यों में सूर्य बन गया हूँ । मुझ सूर्य से सत्यज्ञान की किरणें सब तरफ निकल रही हैं । जैसे इस हमारे सूर्य से प्राणि मात्र को ताप, प्रकाश और प्राण मिल रहा है, सब का पा हो रहा है; इसी तरह मैं भी ऐसा हो गया हूँ कि जो कोई मनुष्य मेरे संपर्क में आता है उसे मुझ से ज्ञान, भक्ति और शक्ति मिलती है । मैं कुछ नहीं करता हूँ पर मुझे अनु होता है कि मुझ से स्वभावतः जीवन की किरणें चारों त निकल रही हैं और चारों तरफ के मनुष्यों को उच्च, पवि और चेतन बना रही हैं । इसमें मेरा कुछ नहीं है, मैंने प्रभु के आदित्य (सूर्य) रूप की ठीक तरह से उपासना की है अतः उनका ही सूर्यरूप मुझ द्वारा प्रकट होने लगा है मैंने बुद्धि द्वारा सूर्य की उपासना की है । मनुष्य का बुि

स्थान (सिर) ही मनुष्य में द्युलोक (सूर्य का लोक) है। मैंने अपनी बुद्धि द्वारा सत्य का ही सब तरफ से ग्रहण किया है और ग्रहण करके इसे धारण किया है। धारण करनेवाली बुद्धि का नाम ही 'मेधा' है। इस प्रकार मैंने मेधा को प्राप्त किया है, द्युलोक के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर द्युलोक को अपने में ग्रहण किया है, इसीलिये मैं सूर्य के समान हो गया हूँ। द्युलोक में स्थित प्रभु का रूप ऋतरूप है, सत्यरूप है। मैंने अपनी सब बुद्धियाँ, सब ज्ञान, उन सत्यस्वरूप पिता से ही ग्रहण किये हैं। मैंने इसका आग्रह किया है कि मैं सत्य को ही—केवल सत्य को ही—अपनी बुद्धि में स्थान दूँगा। इस तरह मैंने प्रभु के द्युरूप की सतत उपासना की है, ऋत की मेधा का परिग्रह किया है। इस सत्यबुद्धि के धारण करने के साथ-साथ मुझमें भक्ति और शक्ति भी आगई है, मेरा मन और शरीर भी तेजस्वी हो गया है। पालक पिता के सब गुण मुझमें प्रकट हो गये हैं। मैं सूर्य हो गया हूँ। हे मुझे सूर्यसमान करनेवाले मेरे कारुणिक पिता! तुझ ऋत की मेधा को सब तरह से पकड़े हुवे मैं तेरे चरणों में पड़ा हुवा हूँ।

शब्दार्थ—

(अहं इत्) मैंने तो (हि) निश्चय से (पितुः) पालक पिता (ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमेश्वर की (मेधा) धारणावती बुद्धि को (परिजग्रभ) सब तरफ से ग्रहण कर लिया है अतः (अहं) मैं (सूर्य इव) सूर्य के समान (अजनि) होगया हूँ।

*

* *

१० वैशाख

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ॥

ऋ० ८.६.४ ॥ साम० पू० २.१.५.३ ॥ अ० २०.१०७.१॥

विनय

इन्द्र परमेश्वर जहाँ हमारे पिता हैं, उत्पादक और पालक हैं, वहाँ वे हमारे कल्याण के लिये रुद्र भी हैं, संहारकर्त्ता भी हैं। जब जगत् में किसी स्थान पर संहार की आवश्यकता आजाती है तो प्रभु अपने मन्यु को प्रकट करते हैं, मानों अपना तीसरा नेत्र खोल देते हैं, अपने तीसरे रूप को प्रकाशित करते हैं। उस कल्याणकारी शिव के मन्यु का तेज जब देदीप्यमान होने लगता है तो सब नाश होने योग्य संसार पतंगे की तरह आ आकर उसमें भस्म होने लगता है; मन्यु का पात्र कोई भी व्यक्ति बच नहीं सकता, सब बहे चले आते हैं। देखो, समय समय पर बड़े-बड़े संग्राम, दुष्काल या महामारी आदि रूपों में प्रभु का वह महाबलवाला मन्यु जगत् में प्रकट होता रहता है। सब मनुष्य अपने विनाश की तरफ़ खिंचे चले जा रहे होते हैं पर उन्हें यह मालूम नहीं होता। जैसे कि सब नदियाँ समुद्र की तरफ़ बही चली जा रही हैं कि उसमें जाकर समाप्त हो जायँगी, लीन हो जायँगी; उसी तरह प्रभु का मन्यु काल-समुद्र बनकर उन सब प्राणियों को अपनी तरफ़ खींचता जा रहा है जिनका कि समय आ गया है। मनुष्यों के

किये हुवे पाप उन्हें विनाश की ओर वेग से खींचे ले जा रहे हैं। जिन्होंने इस संसार को ज़रा भी तह के अन्दर घुस कर देखा है वे देखते हैं कि किस किस विचित्र ढंग से मनुष्य अपने मृत्यु-स्थल की तरफ़ खिंचे चले जा रहे हैं। धन्य होते हैं अर्जुन जैसे दिव्यदृष्टिप्राप्त पुरुष जिन्हें कि काल का यह आकर्षण दिखायी दे जाता है और जो देखते हैं कि "यथा नदीनां बहवोम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखं द्रवन्ति। तथा तवामी नरलोक वीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिज्वलन्ति" पर हम लोग तो मौत के मुँह में घुसे जा रहे होते हैं पर कुछ पता नहीं होता। हम में से अपनी शक्तियों का बड़ा गर्व करनेवाले बड़े-बड़े प्रख्यात लोग जिस समय संसार को जितने अभिमान के साथ अपना पराक्रम दिखा रहे होते हैं, उसी समय वे उतने ही वेग से मृत्यु की तरफ़ दौड़े जा रहे होते हैं; पर उन्हें कुछ पता नहीं होता। जब कि उनका सब ठाठ एक क्षण में गिर पड़ता है, सामने मौत खड़ी दीखती है तब जाकर प्रभु का रुद्र रूप उन्हें दीख पड़ता है। प्यारो! तो तुम अभी से क्यों नहीं देखते कि उसके मन्यु के सामने सब संसार झुका पड़ा है—पापी होकर कोई भी मनुष्य उसके सन्मुख खड़ा नहीं रह सकता है—जिससे तुम अभी से उसके मन्यु का पात्र न बनने की समझ पा सको।

शब्दार्थ—

(अस्य) इस परमेश्वर की (मन्यवे) मन्यु, 'क्रोध', दीप्ति के सामने (विश्वा विशः) सब प्रजायें (कृष्टयः) सब मनुष्य (संनमन्त) ऐसे झुक जाते हैं (समुद्राय इव सिन्धवः) जैसे कि नदियाँ समुद्र में समा जाने के लिये उधर स्वयं बही जाती हैं।

११ वैशाख

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिः गीर्भिः ईमहे ।
इन्द्र अभिमातिषाह्ये ॥

ऋग्वेद० ३.३७.३॥ अथर्व० २०.१९.३॥

विनय

हे परमेश्वर ! मुझे यह वाणी तेरे नामोच्चारण के लिये ही मिली है । मैं निरन्तर तेरे पवित्र नामों का उच्चारण करता रहता हूँ। तेरी दी हुई इस वाणी से मैं अन्य कुछ कर ही नहीं सकता; कोई भी निरर्थक वात, कोई भी अनीश्वरीय बात, मेरी वाणी से नहीं निकल सकती । मेरे एक-एक कथन में तेरी ही धुन होती है, तेरा ही निवास होता है । हे इन्द्र ! मैं इस प्रकार अपनी सब वाणियों से नानारूप में तेरे ही नामों का कीर्तन करता रहता हूँ । यदि मैं ऐसा न करूँ तो मैं अपने शत्रुओं को कैसे पराजित कर सकूँ ? उनसे कैसे रक्षित रहूँ ? तेरा पवित्र नामोच्चारण करता हुवा ही मैं निरन्तर सब शत्रुओं पर विजयी हुवा हूँ और हो रहा हूँ । मेरा सबसे बड़ा शत्रु "अभिमाति" है, अभिमान है । आजकल इस महाशत्रु को मार डालने के लिये विशेषतया तेरा नाम मेरा महाअस्त्र होरहा है । जब मनुष्य के काम क्रोध आदि अन्य शत्रु जीते जाचुके होतेहैं, मनुष्य आत्मिक उन्नति की ऊँची अवस्था को पहुँचा होता है, तब भी यह अभिमान

अहंकार, अस्मिता, मनुष्य का पीछा नहीं छोड़ता। यह है जोकि अविद्या का कुछ अंश शेष रहने तक भी आत्मा का मुकाबला करता रहता है। यही है जोकि, हे मेरे परमेश्वर! मुझे अन्त तक तुमसे जुदा किये रहता है। जब मनुष्य खूब उन्नत हो जाता है, तब उसे और कुछ हीं तो, अपनी उन्नतावस्था का, अपने पुण्यात्मा होने का अभिमान होजाया करता है। यह अभिमान ही मनुष्य को बिल्कुल पतित कर देने के लिये पर्याप्त होता है। इसीलिये ही हे शतक्रतो! हे अनन्तवीर्य! हे अनन्त प्रज्ञ! इसीलिए मैं निरन्तर तेरे नामको जपता रहता हूँ, जीभ पर तेरा परमपवित्र नाम रखे फिरता हूँ। जब ज़रा भी अभिमान मन में आता है "यह बड़ा भारी काम मैं कर रहा हूँ" "यह मैंने किया है" तो तुरन्त मेरे हाथ जुड़ जाते हैं और मुखसे तेरा नाम निकल पड़ता है। इस तरह इस महाशत्रु से मेरी रक्षा होजाती है। तेरा नाम मुझे तुरन्त नमा देता है, तेरा स्मरण आते ही मैं अवनत-शिर होकर भूमि पर मस्तक टेक देता हूँ—तो उस महाबली अभिमान को क्षण भर में विलीन हो चुका पाता हूँ, चारों तरफ़ कोसों दूर तक उसका पता नहीं होता; सब पृथ्वी पर तुम ही तुम होते हो, और मैं तुम्हारे चरणों में। मैं उस समय तेरे पृथ्वी-रूप विस्तृत चरणों में लगी हुई धूल का एक परम तुच्छ कण बनकर निरभिमानता के परम परम सात्विक सुख का उपभोग पाता हूँ। हे नाथ! तेरे नाम की अपार महिमा का मैं क्या वर्णन करूँ?

शब्दार्थ—

(शतक्रतो) हे अनन्त कर्म! हे अनन्त प्रज्ञ! (विश्वाभिःगीर्भिः) मैं अपनी सब वाणियों से (ते नामानि) तेरे नामों को (ईमहे) लेता हूँ—लेता रहता हूँ; (इन्द्र) हे परमेश्वर! (अभिमातिषाह्ये) शत्रु का—अभिमान शत्रु का—पराभव करने के लिये लेता हूँ।

१२ वैशाख

सदा व इन्द्रश्चर्कृषत् आ उपो नु स सपर्यन् ।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥

साम० पू. ३.१.१.३ ॥

विनय

हे मनुष्यो ! तुम अपने परमात्मा से प्रेम क्यों नहीं करते ? जहाँ हरिकथा होती है वहाँ से तो तुम भाग आते हो। बार बार प्रभु-चर्चा होती देखकर तुम ऊबते हो, जब कि विषयों की चर्चायें सुनने के लिये सदा लालायित रहते हो। तुम्हें उस अपने पिता से इतना हटाव क्यों है ? तुम चाहे जो करो, पर वह देव तो तुम्हें कभी भुला नहीं सकता। वह तो तुम्हें प्रेम से अपनी तरफ़ आकर्षण ही कर रहा है, सदा आकर्षण कर रहा है, निरन्तर अपनी तरफ़ खींच रहा है। तुम जानो या न जानो पर वह अत्यन्त समीपता के साथ माता की तरह तुम पुत्रों की निरन्तर परिचर्या भी कर रहा है। वह परमेश्वर हमारे रोम-रोम में रमा हुवा, हमारे एक एक श्वास के साथ आता-जाता हुवा, हमारे मन के एक-एक चिन्तन के साथ तद्रूप हुवा हुवा, और क्या कहें, हमारी आत्माकी आत्मा होकर, एक अकल्पनीय एकता के साथ हमसे जुड़ा हुवा है। हमें संसार में जो कुछ प्रेम, आराम, वात्सल्य, भोग, सेवा, सुख मिल रहा है वह किन्हीं इष्ट मित्रों या प्राकृतिक वस्तुओं से नहीं मिल रहा

है, वह सब हमारे उस एक अनन्य सम्बन्धी परमदयालु प्रभु से ही मिल रहा है। वह केवल हमें अपनी तरफ़ खींच ही नहीं रहा है, किन्तु इतनी समीपता से निरन्तर हमारी सेवा भी कर रहा है, प्रेमप्रेरित होकर हमारी ख़िदमत कर रहा है, हमारा पालन, पोषण, रक्षण, दुखनिवारण आदि सब परिचर्या कर रहा है। अरे! वह तो कहीं छिपा हुवा भी नहीं है। उसके और हमारे बीच में कोई भी आवरण नहीं है। उसे ढका हुवा, अच्छादित भी कौन कहता है?

हे मनुष्यो! सच बात तो यह है कि यदि हम उसके इस प्रेमाकर्षण को जानने लग जायँ—वे प्रभु देव सदा प्रेम से हमें अपनी तरफ़ खींच रहे हैं, यह हम सचमुच अनुभव करने लग जायँ—तो हमें यह भी दीख जाय कि वे हमारे अत्यन्त निकट हैं और अत्यन्त निकटता के साथ हमारी सवा-शुश्रूषा कर रहे हैं; और फिर एक दिन हमें यह भी दीख जाय कि वे सब ब्रह्माण्ड के रचयिता महा पराक्रमी इन्द्र प्रभु—जिनके कि विषय में परोक्षतया हम इतनी बातें सुना करते थे, वे—हमसे किसी आवरण से ढके हुवे भी नहीं हैं, वे प्रत्यक्ष हमारे सामने हैं और यह दीख जाना ही परमात्मा का साक्षात्कार करना है, परमप्रभु को पा लना है।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो! (इन्द्रः) परमेश्वर (वः) तुम्हें (सदा) सदैव (आचर्कृषत्) अपनी तरफ आकर्षित कर रहा है। (स) वह (नु) निःसन्देह (उप उ) समीप ही, समीपता के साथ (सपर्यन्) तुम्हारी सेवा करता हुवा है। (शूरः इन्द्रः देवः) वह महापराक्रमी इन्द्रदेव (न वृतः) ढका हुवा, आच्छादित नहीं है।

१३ वैश्वानर

जुहुरे वि चितयन्तो अनिमिषं नृम्णं पान्ति ।
आ दृढ़ां पुरं विविशुः ॥

ऋ० ५.१९.२ ॥

विनय

एक नगरी है जो कि बिल्कुल दृढ़ है, अभेद्य है; इसमें पहुँच जाने पर किसी भी शत्रु का हम पर आक्रमण सफल नहीं हो सकता। क्या कोई उस स्थान पर पहुँचना चाहता है? वहाँ पहुँचने का मार्ग कुछ विकट है, कड़ा है, आसान नहीं है। वहाँ पहुँचनेवालों को ज्ञानपूर्वक स्वार्थ-त्याग करते जाना होता है और सदा जागते हुवे अपने "नृम्ण" की—आत्म-बल की—रक्षा करते रहना होता है, ये दो साधनायें साधनी होती हैं। कई लोग अपने कर्तव्य व उद्देश्य का बिना विचार किये यूँ ही जोश में आकर 'आत्म-बलिदान' कर डालते हैं। ऐसा करना आसान है पर यह सच्चा बलिदान नहीं होता। इससे यथेष्ट फल नहीं मिलता। इस पवित्र उद्देश्य के सामने अमुक वस्तु वास्तव में तुच्छ है इसलिये अब इस वस्तु को स्वाहा कर देना मेरा कर्तव्य है इस प्रकार के स्पष्ट-ज्ञान के साथ, बिना किसी जोश के, जो आत्म-बलिदान होता है वही सच्चा आत्म-बलिदान होता है। नहीं तो, हम तो बहुत वार आत्म-बलिदान के नाम से आत्म-

घात कर रहे होते हैं। वहाँ पहुँचने के लिये तो आत्मा का घात नहीं, किन्तु आत्मा की रक्षा करनी होती है। हम लोग प्रायः क्रोध करके, असत्य बोल कर, इन्द्रियों को स्वच्छन्द भोगों में दौड़ाकर अपना आत्म-तेज, आत्मवीर्य, आत्मबल खोते रहते हैं। पर वे पुरुष अपने इस 'नृम्ण' आत्मबल की बड़ी सावधानी से, सदा जागरूक रहते हुवे, बड़ी चिन्ता से, रक्षा करते हैं। वे पल पल में अपनी मनोगति पर भी ध्यान रखते हुवे देखते रहते हैं कि कहीं अन्दर कोई आत्मबल के क्षय करनेवाला काम तो नहीं हो रहा है। एवं रक्षा किया हुवा आत्म-बल ही उस दृढ़ पुरी में पहुँचनेवाला है। वास्तव में ये दोनों साधनायें एक ही हैं, यदि हम इनके इस सम्बन्ध पर विचार करें कि ऐसे लोग आत्मबल की रक्षा करने के लिये शेष हरेक वस्तु का बलिदान करने को उद्यत रहते हैं और ये सदा इतने सत्य के साथ आत्म-बलिदान करते जाते हैं कि उनके प्रत्येक आत्म-बलिदान का फल यह होता है कि उनका आत्म-बल बढ़ता है। आओ! हम भी आत्म-हवन करते हुए और आत्म बल की रक्षा करते हुवे चलने लगें और उस मार्ग के यात्री हो जायँ जो कि अभयता, अजातशत्रुता, अमरता और अभेद्यता की दृढ़ पुरी में पहुँचनेवाला है।

शब्दार्थ—

जो (वि चितयन्तो जुहुरे) ज्ञान पूर्वक स्वार्थ त्याग करते हैं और (अनिमिषं नृम्णं पान्ति) लगातार जागते हुवे, अपने आत्मबल की रक्षा करते रहते हैं [ते] वे (दृष्टां पुरं) दृढ़ अभेद्य नगरी में (आविविशुः) प्रविष्ट हो जाते हैं।

*

* *

१४ वैशाख

कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
तदिद्धि अस्य वर्धनम् ॥

साम० पू० ३.१.४.२॥

विनय

प्रभु की थोड़ी सी भी भक्ति महान् फल को देनेवाली होती है। हम लोग समझा करते हैं कि थोड़े से सन्ध्या-भजन से, एक आध मंत्र द्वारा उसका स्मरण कर लेने से हमारा क्या लाभ होगा, या एक दिन यह भजन छोड़ देने से हमारी क्या हानि होगी। पर यह सत्य नहीं है। हमारी उपासना चाहे कितनी स्वल्प और तुच्छ होवे पर वह उपास्यदेव तो महान् है। ज्ञान और शक्ति में वह हमसे इतना महान् है कि हम कभी भी उसके योग्य उसकी पूरी भक्ति नहीं कर सकते हैं। और उसके सामने हम इतने तुच्छ हैं कि वह यदि चाहे तो अपने ज़रा से दान से हमें क्षण में भरपूर कर सकता है। हम यदि थोड़ी देर के लिये भी उससे अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं तो वह महान् देव उस थोड़े से समय में ही हमें भर देता है। सन्त लोग अनुभव करते हैं कि प्रभु का क्षण भर ध्यान करते ही प्रभु की आशीर्वाद-धारा उनके लिये खुल जाती है और वे उस क्षण भर में ही प्रभु के आशीर्वाद से नहा जाते हैं; एक बार प्रभु का नामोच्चारण करते ही उन्हें ऐसा आवेश आता है कि शरीर रोमांचित होजाता है, मन और आत्मा आनन्दरससे पवित्र और प्रफुल्ल होजातेहैं। पर यदि

हम साधारण लोगोंकी प्रार्थना, उपासना अभी उस महाप्रभुसे इतना ऐश्वर्य नहीं पासकती है तबतो हमें उसके थोड़े से भी भजनकी बहुत क़दर करनी चाहिए,एकभी दिन एकभी समय नागा नकरनीचाहिये। एक समय भी नागा होने से जो सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह फिर जोड़ना पड़ता है। यही कारण है कि नागा होने पर प्रायश्चित्त का विधान है। एवं एक समय नागा होने से एक समय की देरी नहीं होती, वह दुबारा सम्बन्ध जोड़ने जितनी देरी होजाती है। अतःहम चाहें किसी दिन भजन में बिल्कुल दिल नलगा सकें,तथापि उस दिन भी कुछ न कुछ उपासना ज़रूर करनी चाहिये, यत्न ज़रूर करना चाहिये। पीछे पता लगता है कि एक दिन का भी यत्न व्यर्थ नहीं गया, एक एक दिन की उपासना ने हमें बढ़ाया है—हमारे शरीर मन और आत्मा को उन्नत किया है।

कम से कम यह तो असन्दिग्ध है कि संसार की अन्य बातों में हम जितना समय देते हैं सांसारिक बातों की जितनी स्तुति उपासना करते हैं और उससे जितना फल हमें मिलता है, उससे अनन्तों गुना फल हमें प्रभु की (अपेक्षया बहुत ही थोड़ी सी) स्तुति उपासना से मिल सकता है और मिल जाता है। कारण स्पष्ट है, क्योंकि वह महान् है, ज्ञान का भण्डार है, सर्वशक्तिमान् है और ये सांसारिक बातें अल्प हैं, तुच्छ हैं, निस्सार हैं, ज्ञानशक्तिविहीन केवल विकार हैं।

शब्दार्थ—

(महे) महान् (प्रचेतसे) बड़े ज्ञानी (देवाय) इष्टदेव परमेश्वर के लिये (कत् उ) कुछ भी, थोड़ा सा भी (वचः शस्यते) वचन—स्तुति रूप में—कहा जाय (तत् इत् हि) वह ही निश्चय से (अस्य) इस वक्ता का (वर्धनं) बढ़ानेवाला है।

१५ वैशाख

आ घा गमत् यदि श्रवत् सहस्रिणीभिः ऊतिभिः।
वाजेभिः उप नो हवम् ॥

ऋ० १.३०.८॥ साम० उ० १. २.११॥ अथर्व० २०.२६.२॥

विनय

वह आजाता है, निश्चय से आजाता है, हमारे पास आ प्रकट हो जाता है यदि वह सुन लेवे। बस, उसके सुन लेने की देर है। उस तक अपनी सुनाई करना, अपनी रसाई करना बेशक कठिन है। उस तक हमारी पुकार पहुँच जाय, इसके लिये हममें कुछ योग्यता चाहिये, हममें कुछ सामर्थ्य चाहिये। पर इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि वह परमात्मदेव यदि पुकार सुन लेवे, यदि हमारी प्रार्थनाको स्वीकार कर लेवे तो वह निश्चयसे आजाता है—और तब वह आता है अपनी सहस्रों प्रकार की रक्षा-शक्तियों के साथ। हमारी रक्षा के लिये मानों वह अपनी अनन्त महाशक्तिनी सेना के साथ आ पहुँचता है। हमारी रक्षा के लिये तो उसकी जरासी शक्ति ही बहुत होती है पर तब यह पता लग जाता है कि उसकी रक्षा-शक्ति असीम है। वह हमारे 'हव' पर—पुकार पर—अपने 'वाज' के साथ (अपने ज्ञान-बल के साथ) आ पहुँचता है। हम पीड़ितों की रक्षा कर जाता है और हम अज्ञानान्धकार में ठोकरें

खाते हुवों के लिये ज्ञान-प्रकाश चमका जाता है, पर यदि वह सुन लेवे। कौन कहता है कि वह सुनता नहीं। बेशक, उसके हमारी तरह कान नहीं, पर वह परमात्मदेव बिना कान के सुनता है। यदि हमारी प्रार्थना कल्याण की प्रार्थना होती है और वह सच्चे हृदय से—सर्वात्मभाव से—की गई होती है तो उस प्रार्थना में यह शक्ति होती है कि वह प्रभु के दरबार में पहुँच सकती है। आः! हमारी प्रार्थना भी प्रभु के दरबार में पहुँच सके; हममें इतनी स्वार्थशून्यता, आत्म-त्याग और पवित्रता होवे कि हमारी पुकार उसके यहाँ तक पहुँच सके। यदि हमारी प्रार्थना में इतनी शक्ति हो, हम अंधकार में पड़े हुवे, दुःख-पीड़ितों, दुर्बलों के हार्दिक करुण-क्रन्दनों में इतना बल हो कि इन्द्रदेव उसे सुन लेवे तो क्या है? तब तो क्षण भर में वे करुणासिन्धु हम डूबतों को बचाने के लिये आ पहुँचते हैं बस, हमारी प्रार्थना उन तक पहुँचे, हमारी पुकार में इतना बल हो, तो देखो, वे प्रभु अपने सब साज-सामान के साथ, अपने ज्ञान, बल और ऐश्वर्य के भण्डार के साथ, अपनी दिव्य विभूतियों की फौज के साथ हम मरतों को बचाने के लिये, हम निर्बलों में बल संचार करने के लिये, हम अंधों को अपनी ज्योति से चकाचौंध करने के लिये आ पहुँते हैं।

शब्दार्थ—

(यदि) यदि (नः हवं) हमारी पुकार (श्रवत्) वह इन्द्र सुन लेवे तो वह (सहस्रिणीभिः ऊतिभि) अपनी सहस्रों बलशालिनी रक्षा-शक्तियों के साथ और (वाजेभिः) सहस्रों ज्ञानबलों के साथ (उप-आगमत् घ) निश्चय से आ पहुँचता है।

*

* *

१६ वैशाख

पवमानस्य ते वयं पवित्रं अभ्युन्दतः ।
सखित्वं आ वृणीमहे ॥

ऋ० ९.६१.४॥ साम०उ०२.१.५॥

विनय

हे त्रिभुवन पावन ! तुम अपने स्पर्श से इस सब जगत् को पवित्रता दे रहे हो। यह सच है कि तुम्हारे बिना यह संसार बिल्कुल मलिन है। यह संसार तो स्वभावतः सदा मलिन ही होता रहता है, विकृत होता रहता है, गन्दगियाँ पैदा करता रहता है। परन्तु तुम्हारी ही नाना प्रकार की पवित्र करनेवाली धारायें नाना प्रकार से इस संसार के सब क्षेत्रों से इन मलिनताओं को निरन्तर दूर करती रहती हैं। हे पवमान! हे सब जगत् को अपने अनवरत प्रवाह से पवित्र करनेवाले ! जो मनुष्य तुम्हारे स्वरूप की इस पवित्रता को जानते हैं, वे अपने आपको भी (अपने हृदयको भी) पवित्र करने में लग जाते हैं, अपने अन्तःकरण से काम, क्रोध आदि विकारों को निकालकर इसे बड़े यत्न से निर्मल बनाते हैं। जब यह पवित्र हो जाता है तो इस पवित्र अन्तःकरण में तुम्हारी सात्विक धारायें जो आनन्द-रस पहुँचाती हैं, हृदय को सदा सरस बनाये रहती हैं, उसका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। पवित्रान्तः-करण भक्त लोग ही उसका अनुभव करते हैं। जिनके हृदयों में द्वेष,

क्रोध, जड़ता आदि का कूड़ा भरा हुवा है उनके शुष्क हृदय,या जिन्होंने प्रेम शक्ति का दुरुपयोग कर विषैले रसों से हृदय को गंदा कर रखा है उनके भी मलिन हृदय, इस पवित्र आनन्द-रस का आह्लाद क्या जानें ? जब मनोविकारों का यह सूखा या गीला मैल निकल जाता है तभी मनुष्यके हृदयमें तुम्हारे पवित्ररस का स्यन्दन होना प्रारम्भ होता है और उसमें फिर दिनों दिन सात्विकरस भरता जाता है। भक्तिभाव के बढ़ाने से जब भक्तों के हृदय-मानस आनन्द के हिलोरें लेने लगते हैं,तो वे देखने योग्य होते हैं। हे सोम ! तब उनके पवित्र हृदय का तुम 'पवमान' के साथ सम्बन्ध जुड़ गया होता है। इस सम्बन्ध, इस सखित्व, इस एकता के कारण ही उन का हृदय सदा तुम्हारे भक्तिरस के चुआनेवाला झरना बन जाता है। हे प्रभो ? यही सम्बन्ध, अपना यही सखित्व हमें प्रदान करो। हे सोम ! हम तुझसे इसी सखित्व की भिक्षा मांगते हैं। हे जगत् को पवित्र करनेवाले ! जिस सख्य के हो जाने से तुम्हारी पवित्रकारक धारा मनुष्य के हृदयको सदा भक्ति-रस से रसमय बनाये रखती है, उसी सखित्व की भिक्षा हमें प्रदान करो। हम अपने हृदय को पवित्र करते हुवे तुमसे यही सखित्व, यही मैत्रीभाव, यही प्रेम-सम्बन्ध प्राप्त करना चाहते हैं, वरना चाहते हैं। यह वर हमें प्रदान करो।

शब्दार्थ—

(पवित्रं अभि उन्दतः) हमारे पवित्र हुवे अन्तःकरण को भक्तिरस से आर्द्र करते हुवे (पवमानस्य ते) तुझ परम पावन के (सखित्वं) सख्य को, मित्रभाव को (वयं) हम (आवृणीमहे) वरण करते हैं।

* *

*

१७ कैशाख

अभ्रातृव्यो अना त्वं अनापिः इन्द्र जनुषा सनादसि।
युधेदापित्वमिच्छसे ॥

ऋ० ८.२१.१३॥ अ० २०.११४.१॥

विनय

हे परमेश्वर ! तुम्हारे लिये न कोई शत्रु है और न कोई बन्धु है। तुम जिस उच्च स्वरूप में रहते हो वहाँ शत्रुता और बन्धुता का कुछ अर्थ ही नहीं। और तुम्हारे लिये कोई नायक व नियन्ता कैसे हो सकता है ? तुम ही एक मात्र सब जगत् के नियन्ता हो, नेता हो। तुम जन्म से, स्वभाव से ही ऐसे हो। 'जनुषा' का यह मतलब नहीं कि तुम्हारा कभी जन्म होता है । तुम तो सनातन हो,सनातन रूप से ऐसे शत्रुरहित और बन्धुरहित हो। पर सनातन होते हुवे भी तुम हमारे बन्धुत्व (आपित्व) को चाहते हो। और इस बन्धुत्व को तुम युद्ध द्वारा चाहते हो, युद्ध द्वारा ही चाहते हो। अहा ! कैसा सुन्दर आयोजन है ! तुम चाहते हो कि संसार के सब प्राणी सांसारिक युद्ध कर करके ही एक दिन तुम्हारे बन्धु बन जायँ, तुम्हारे बन्धुत्व का साक्षात्कार करलें । सचमुच बिना लड़ाई के मिली सुलह, बिना संघर्ष के मिली प्रीति, बिना संग्राम के मिली मैत्री नीरस है, फीकी है, अवास्तविक है उसका कुछ मूल्य नहीं है। बन्धुता तो अबन्धुता की,लड़ाई की, सापेक्षता में ही अनुभूत की जा सकती है। इसीलिये हे मेरे जगदीश्वर ! मुझे अब समझ में आता है कि तुमने कल्याणस्वरूप होते हुवे भी इस अपने जगत्

में दुःख, दर्द, दारिद्र, रोग, क्लेश, आपत्ति, उलझन आदि को क्यों उत्पन्न होने दिया है और अब समझ में आता है कि तुमने इन कठिनाइयों को खड़ा करके प्राणियों के जीवन को निरन्तर युद्ध मय, संघर्षमय, क्यों बनाया है। सचमुच, यह सब कुछ तुमने इसीलिये किया है कि हम इन बाधाओं को जीत कर, इन कठिनाइयों, उलझनों को पार करके तेरे बन्धुत्व के रसास्वादन के योग्य बन जायँ। तू तो अब भी हमारा बन्धु है, हममें से जो तेरे द्रोही कहे जाते हैं—जो नास्तिक हैं—उनका भी तू अब भी एक समान बन्धु है (और असल में किसी का भी बन्धु या शत्रु नहीं है) तो भी तेरी उस बन्धुता का अनुभव—तुझे बन्धु रूप से पा लेने का परमानन्द—हमें तभी मिल सकता है जब हम संसार के इस परम विकट युद्ध को विजय करके तेरे पास आ पहुँचें। तू चाहता है कि आज जो तुझसे बहुत दूर है, तेरा कट्टर द्वेषी है, वह युद्ध करके एक दिन तेरा उतना ही नज़दीकी और उतना ही कट्टर बन्धु बन जाय। अतः अब मैं तेरे बन्धुत्व पाने के समर में ही कमर कसे खड़ा हुवा अपने को पाता हूँ, जितनी वार मरूँगा इसी समर की युद्धभूमि में मरूँगा और अन्त में तेरे बन्धुत्व को पाकर ही दम लूँगा। यही तेरी इच्छा है, यही तेरी मुझसे प्रेममय इच्छा है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वं) तुम (जनुषा) जन्म से ही, स्वभाव से ही (अभ्रातृव्यः) शत्रु रहित (अनापिः) बन्धु रहित (अना) नियन्तृ-रहित (असि) हो, (सनात्) तुम सनातन हो, सनातन से ही ऐसे हो। पर तुम (युधा) युद्ध द्वारा (इत्) ही (आपित्वं) बन्धुत्व को (इच्छसे) चाहते हो।

१८ वैशाख

ये ते पवित्रमूर्मयो अभिक्षरन्ति धारया ।
तेभि र्नः सोम मृडय ॥

ऋ० ९.६१.५॥ सा० उ० २.१.५॥

विनय

मानसरोवर में कुछ न कुछ तरंगें सदा उठाही करती हैं। चारों तरफ़ होनेवाली घटनाओं से मनुष्य का मानससर नानाप्रकार से क्षुब्ध होता रहता है। परन्तु हे सोम ! मैं अपने मानस को पवित्र बना रहा हूँ। इसलिये पवित्र बना रहा हूँ जिससे कि इस में तेरी जगत्-व्यापक धारा से आई हुई तरंगें ही पैदा होवें और किसी प्रकार की क्षुद्र तरंगें न पैदा हों। हे सोम ! अपनी शीतल सुखदायिनी और ज्ञानामृतवर्षिणी धाराओं से तुमने इस जगत् को व्याप्त कर रखा है। इन्हीं द्वारा यह जगत् धारित हुवा हुवा है, नहीं तो इस जगत् का सब जीवन-रस न जाने कब का सूख चुका होता। मैं देखता हूँ कि तुम्हारी इस जीवनरसदायिनी दिव्य धारा का मनुष्यों के पवित्र हुवे अंतःकरणों के प्रति एक आकर्षण उत्पन्न हो जाया करता है। जैसे कि चन्द्रमा के (भौतिक सोम के) आकर्षण से समुद्र जल में ज्वारभाटा उत्पन्न होता रहता है, उसी तरह हे सच्चे सोम ! मनुष्य के पवित्र हुवे मनःसरोवर में भी तेरी सोमधारा के महान् आकर्षण से उच्च तरंगें उठने लगती हैं, ऊँचे ऊँचे व्यापक सनातन भावावेश (Emotions) उठने

लगते हैं। विश्वप्रेम, वीरता, अदम्य उत्साह, सर्वार्पण कर डालने की उमंग, दुःखित मात्र पर दया, इत्यादि ऐसे सनातन व्यापक भावावेश हैं जो कि तेरी जगत्-धारक महान् धारा के अनुकूल हैं। बस, पवित्र हुवे अंतःकरणों में तेरी महाशक्तिमती धारा के अनुसार ये ही तेरी ऊर्मियाँ, तेरी तरंगें, अभिक्षरित हुवा करती हैं। हे सोम! मुझे अब इन्हीं सत्यमयी व्यापक तरंगों के मनमें उठने से सुख मिलता है। वे राग द्वेष की हवा से उठनेवाली क्षुद्र भावावेशों (Emotions) की तरंगें, वे मन को क्षुब्ध करनेवाले एक पक्षीय ज्ञान से होनेवाले छोटे छोटे अनुराग, मोह, शंका, भय, उत्कंठा, कामना आदि की तरंगें मुझे सुख नहीं देतीं, किन्तु क्लेश रूप दिखाई देती हैं। इसलिये, हे मेरे सोम! मेरे मानस में उन्हीं तरंगों को उठाकर मुझे सुखी करो जो तरंगें पवित्र हृदयों में तुम्हारी धारा से उठती हैं। बस ये ही उच्च भावावेश, ये ही व्यापक सनातन महान् भावावेश, मेरे मानस में उठा करें—ये ही तरंगें वार वार उठें, खूब उठें, खूब ऊँची ऊँची उठें—ऐसी ऊँची और महान् उठें, कि इन आनन्ददायक भावावेशों में उठता हुवा मैं तन्मग्न होकर तेरी ऊँचाई के संस्पर्श का सुख अनुभव कर सकूँ।

शब्दार्थ—

(ते ये ऊर्मयः) तेरी जो तरंगें (धारया) जगत् के धारण करनेवाली तेरी जगत् व्यापक ज्ञानधारा द्वारा (पवित्रं अभिक्षरन्ति) मनुष्य के पवित्र हुवे अन्तःकरण में प्रकट होती हैं, उठती हैं (सोम) हे सोम! (तेभिः) उन तरंगों से (नः मृडय) हमें आनन्दित कर दो।

* *

*

१६ वैशाख

यद् वीडाविन्द्र यत् स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्।
वसु स्पार्हं तदाभर ॥

ऋ० ८.४५.४१॥ साम० उ० ४.१.९॥ अ० २०.४३.२॥

विनय

हे परम परमैश्वर्यवाले इन्द्र ! तुम्हारा नानाप्रकार का ऐश्वर्य इस संसार में भरा पड़ा है । पर तुम्हारे इन ऐश्वर्यों में से जिस प्रकार के ऐश्वर्य की मुझे स्पृहा है, जिस प्रकार के ऐश्वर्य को मैं चाहता हूँ वह तो वह है जो कि संसार के वीर, दृढ़ (वीडु) पुरुषों में दिखाई देता है और जो कि स्थिर तथा विमर्शशील पुरुषों में रहता है । आम लोग रुपये पैसे को ऐश्वर्य समझते हैं पर असल में वह ऐश्वर्य नहीं है । रुपये, पैसे तथा अन्य संपत्ति के पदार्थों का ऐश्वर्य होना या न होना मनुष्य पर आश्रित है, मनुष्य की शक्ति पर आश्रित है, अतः मनुष्य तथा मनुष्य का सामर्थ्य ही वास्तविक धन (ऐश्वर्य) है। गीता में जो 'अभय', 'सत्वसंशुद्धि' आदि सद्गुणों को दिव्यसंपत्ति कहा है वह सत्य है, वही सच्ची संपत् है । शम दम तितिक्षा आदि छः गुण इसीलिये 'षट् संपत्ति' नाम से जगत् में प्रसिद्ध हैं। हे इन्द्र ! मुझे तो यह ही सच्ची संपत् चाहिये। संसार के रुपये पैसे के धनियों को देख कर मुझे ज़रा भी उनकी सी अवस्था के प्रति आकर्षण नहीं होता। परन्तु वीरों की वीरता, अदम्य उत्साह, तेज और दृढ़ता पर मैं मोहित हूँ । जो चिरकाल

तक स्थिरता से श्रद्धापूर्वक साधना करते हुवे अंत में अवश्य विजयशील होते हैं, उनका यह स्थिरता का गुण मुझे उनका भक्त बना लेता है। और जब मैं उन पुरुषों को देखता हूँ जो कि विचारपूर्वक सब कार्य करते हैं, पेंचीदी अवस्था आने पर भी जिन्हें अपना कर्तव्य का निर्णय करने में ज़रा देर नहीं लगती, तो मैं यही चाहता हूँ कि यह विमर्शक्षमता मुझ में भी आजाय। जिनके पास ये तीन गुण नहीं होते उनके पास तो रुपया पैसा भी नहीं ठहरता, यदि ठहरता भी है तो या तो वह शक्तिरूप नहीं होता या बुरी शक्ति बन जाता है। क्या हम रोज़ नहीं देखते कि बुज़दिली के कारण, अस्थिरता के कारण, नासमझी के कारण सब कमाया हुआ बड़ा भारी धन एक दिन में बरबाद हो जाता है या होता हुवा भी बेकार साबित होता है। इसलिये मेरे पास तो यदि भूमि, घर, आदि कुछ सामान न हो, कपड़ा लत्ता भी न हो, एक कौड़ी तक न हो, पर यदि मुझ में वीरता, अजेय दृढ़ता हो और लगातार देर तक सतत काम करने की शक्ति एवं लगन हो तथा मुझमें विचारशीलता हो, तो मैं हे प्रभो! अपने को महाधनी समझूँगा और संसार में आत्माभिमान के साथ सिर ऊँचा करके फिरूँगा। इसलिये हे नाथ! मुझे तो तुम दृढ़ता, स्थिरता, और विमर्शशीलता प्रदान करना; मैं यही माँगता हूँ, आपसे यही ऐश्वर्य पाना चाहता हूँ।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर! (यत्) जो धन तूने (वीडौ) दृढ़, न दबने वाले पुरुष में (यत् स्थिरे) जो धन स्थिर रहनेवाले में (यत् पर्शाने) और जो धन विचारशील पुरुष में (पराभृतं) रखा है (तत्) वह (स्पार्हं) स्पृहणीय, चाहने लायक (वसु) धन (आभर) मुझे प्राप्त करा।

२० वैशाख

यदग्ने स्यामहं त्वं, त्वं वा घा स्या अहम् ।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः ॥

ऋ ८.४४.२३ ॥

विनय

हे नारायण ! तुम्हारी मंगलकामना प्राणीमात्र के लिये अनवरत हो रही है । तुम्हारे आशीर्वाद प्रत्येक जीव के लिये—अपने प्रत्येक पुत्र के लिये—एक समान बरस रहे हैं । फिर भी जो ये आशीर्वाद हमें लगते नहीं हैं, हम पर अपना असर नहीं करते हैं, इसका कारण यह है कि हमही अपने आपको इनसे वंचित रख रहे हैं । स्वार्थ, अहंकार, अस्मिता से हमने अपने आपको ऐसा बाँध लिया है, ऐसा लपेट लिया है कि हम तुम्हारे वास्तव में परमनिकट होते हुवे भी तुमसे इतने दूर होगये हैं कि हम पर तुम्हारी आशीर्वाद-वर्षा का कुछ भी असर नहीं होता । हे मेरे प्यारे ! प्रकाशमय देव ! हममें दूरी करनेवाला, हमें जुदा रखनेवाला, यह आवरण अब सहा नहीं जाता । अब तो यह पर्दा फट जाय, यह आवरण हट जाय और मैं तू हो जाऊँ या तू मैं हो जाय, तो मुझ पर बरसाये गये जीवनभर के तेरे सब आशीर्वाद एक क्षण में सफल होजायँ, तथा जीवन भर में तुम्हारे प्रति की गई मेरी सब प्रार्थनाएँ एक पल में पूरी होजायँ। हे प्रभु! वह दिन कब आयेगा, जबकि मैं तेरे ध्यान में मग्न होकर अपने

आपको खो दूँगा और दूसरी तरफ़ तुम अपने परम प्यारे पुत्र को अपनी गोद में आश्रय देदोगे; जबकि मेरा आत्मा अपने परम आत्मा को पाजायगा और दूसरे शब्दों में तुम परमात्मा अपने एक चिरवियुक्त अंग को फिर अंगीकार करलोगे, जबकि मेरी आत्मा-अग्नि तुम्हारी वृहत्-अग्नि में जाकर 'मैं' को नष्ट कर देगी अथवा जबकि तुम्हारे द्वारा मेरे स्वीकृत होजाने से "तुम" जाता रहेगा? तब मेरी कोई प्रार्थना न रहेगी क्योंकि तब मेरा कोई स्वार्थ व कामना न रहेगी और इसलिये तब तुम्हारा कोई आशीर्वाद भी बाकी न रहेगा। उस मंगल मिलन में तुम्हारे सब आशीर्वाद मूर्तिमन्त, सत्य, सफल हो जाँयगे। जीवन भर में जो जो मैंने तुमसे भक्तिमय प्रार्थनायें की है और उनके उत्तर में, उनकी स्वीकृति में, तुमसे मैंने जो नाना आशीर्वाद पाये हैं, वे सबके सब आशीर्वाद आख़िर इसी महान् मंगलमिलन के लिये थे। मेरी सब प्रार्थनाओं की एक इच्छा, और तुम्हारे सब मेरे प्रति आशीर्वचनों की एक इच्छा, यह मिलन ही थी। तुम्हारी मेरे कल्याण की सब की सब कामनायें, सब आशीर्वाद, इस आत्मप्राप्ति में एक दम पूरे हो जाते हैं, क्योंकि यही मेरा सब से बड़ा कल्याण है, कल्याणों का कल्याण है, जिसमें सब कल्याण समा जाते हैं। अहो! वह मंगल मिलन, वह महान् मंगल मिलन!

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (यत् अहं त्वं स्याम्) जब मैं तू हो जाऊँ (वा घ) या (त्वं अहं स्याः) तू मैं हो जाय तो (ते इह आशिषः) तेरे इस संसार के वे सब आशीर्वाद (सत्याःस्यु) सत्य, सफल हो जायँ।

* *
*

२१ वैशाख

अभि प्र गोपतिं गिरा, इन्द्रमर्च यथाविदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥

ऋ० ८.६९.४॥ साम० पू० २.२.८.४॥ अ० २०.९२.१॥

विनय

हे मनुष्य ! यदि तू यथार्थ सत्यज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तू इन्द्र की शरणमें जा। ये इन्द्रियाँ—प्रत्यक्ष ज्ञान का साधन समझी जानेवाली ये इन्द्रियाँ—तुझे परिमित ज्ञान ही देंगी तथा बहुत बार बड़ा भ्रामक ज्ञान उत्पन्न करेंगी, मन इन्द्रिय भी तुझे दूर तक नहीं पहुँचायगी;और तेरे रागद्वेषपूर्ण मलिन मन की तर्कना शक्ति केवल कुतर्क में लगेगी। बाहिर से मिलनेवाला ज्ञान अर्थात् विद्वानों के उपदेश और तत्वज्ञानियों के ग्रन्थ अपनी अपनी दृष्टि से कहे व लिखे जानेके कारण तुझे अभी कुछ शान्ति न दे सकेंगे,बहुत संभव है कि ये तुझे और उलझन में डाल देंगे। अतः तुझे शान्ति दे सकनेवाला सच्चा यथार्थ ज्ञान अपने अन्दर से, अपनी आत्मा से ही मिलेगा। इसे तू अपनी आत्मा में खोज; उस अपनी आत्मा में खोज जो कि इन सब इन्द्रियों का स्वामी है, जिसने अपनी शक्ति प्रदान करके मन आदि इन्द्रियों को अपना साधन बना रखा है जोकि सत्य ज्ञान-स्वरूप है,जो कि परम सत्यस्वरूप परमात्मा का पुत्र है,और जो कि अतएव स्वभावतः सदा सत्य का पालक है। हे मनुष्य ! तू इस सत्य-

देव की पूजा कर, आराधना कर, पूरे यत्न से इसे प्रसन्न कर तो तुझे सत्य मिल जायगा। वाणी शक्ति द्वारा तू इसकी अपरोक्ष पूजा कर। इस सत्यमय देव की आराधना करने के लिये तुझे सत्यमय वाणी की साधना करनी पड़ेगी। बोलने में, व्यवहार में, हर एक अभिव्यक्ति में पूरी तरह सत्य का पालन करना होगा; अन्दर की मनोमय वाणी में भी सर्वथा सत्य के ही चिन्तन, मनन की त्रिकट तपस्या करनी होगी। अन्दर घुसने पर ही तुझे पता लगेगा कि परिपूर्ण वाणी द्वारा सत्य की आराधना करना कितना कठिन है। पर साथ ही यह भी सच है कि जब तू यह साधना पूरी कर लेगा तो तेरा 'सत्य सूनु' 'सत्पति' आत्मा प्रकट हो जायगा और अपना अमूल्य भण्डार, सब सत्य ज्ञान के रत्नों का भण्डार, तेरे लिये खोल देगा। तब तुझे कोई उलझन न रहेगी, तेरा निर्मल मन ठीक ही तर्क करेगा, तेरी इन्द्रियाँ भी अधिक स्पष्ट देखेंगी, पर सब से बड़ी बात तो यह है तब तुझे वह सत्यमयी, 'ऋतंभरा' बुद्धि मिल जायगी जिस द्वारा कि तू जब जिस विषय का यथार्थ ज्ञान पाना चाहेगा वह सब तुझे प्रकाशित हो जाया करेगा। सत्य का पालन करनेवाला सत्पति आत्मा स्वयमेव तेरे लिये सदा सत्य की रक्षा करता रहेगा। वाणी द्वारा सत्य की साधना करने का यह स्वाभाविक फल है। हे मनुष्य! तू इस सत्य इन्द्र की आराधना कर, अपरोक्ष रूप से पूरी तरह आराधना कर।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य! (यथाविदे) यथार्थ ज्ञान पाने के लिये तू (गोपतिं) इन्द्रियों के स्वामी (इन्द्रं) आत्मा का (गिरा) वाणी द्वारा (अभि प्र अर्च) अपरोक्ष और पूरी तरह पूजन कर, जो कि आत्मा (सत्यस्य सूनुं) सत्य का पुत्र है और (सत्पतिं) सदा सत् का पालक है।

२२ वैश्वानर

अग्निमिन्धानो मनसा धियं सचेत मर्त्यः ।
अग्निमीधे विवस्वभिः ॥

ऋ० ८.१०२.२२॥ साम० पू० १.१.२.९॥

विनय

मैं जो प्रतिदिन आग जलाकर अग्निहोत्र करता हूँ उससे क्या हुवा, यदि इस अग्नि-दीपन से मेरे अन्दर की आत्म-ज्योति न जग सकी। यदि मेरे प्रतिदिन अग्निहोत्र करते रहने पर भी मेरे जीवन में कुछ भेद न आया, मेरा व्यवहार आचरण वैसा का वैसा रहा, न मुझमें सद्बुद्धि ही जागृत हुई और न मैं सत्कर्मों में प्रेरित हुवा, तो मेरा यह सब अग्निचर्या करना व्यर्थ है। सचमुच हरेक वाह्य-यज्ञ अन्दर के यज्ञ के लिये है। बाहिर की अग्नि इसीलिये प्रदीप्त की जाती है कि उस द्वारा एक दिन अन्दर की आत्माग्नि प्रदीप्त हो जाय। यह आत्माग्नि मन द्वारा प्रदीप्त की जाती है। इसीलिये कहा गया है कि बाहिर की द्रव्यमय-यज्ञ की अपेक्षा अन्दर का मानसिक-यज्ञ हज़ार गुणा श्रेष्ठ होता है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह मन द्वारा अपनी आन्तर-अग्नि को जलावे, आत्माग्नि को प्रदीप्त करे और इस प्रकार "धी" को, सद्बुद्धि को, प्राप्त कर ले तथा

सत्कर्म में प्रेरित होता हुवा आत्मकल्याण को पा जावे। जो मनुष्य मनन करते हैं अर्थात् आत्मनिरीक्षण, आत्मचिन्तन विचार और भावना करते हैं, जाप करते हैं तथा ध्यान, धारणा, समाधि करते हैं, वे इन सब मानसिक प्रक्रियाओं द्वारा आत्म-ज्योति को जगा लेते हैं और उन्हें सत्यबुद्धि, ज्ञानप्रकाश, सदा ठीक कर्म में ही प्रवृत्त करानेवाली समझ मिल जाती है। अतः आज से मैं भी इस अग्नि को प्रदीप्त करूँगा, विवस्वतों द्वारा—तमोनिवारक ज्ञानकिरणों द्वारा—इस अग्नि को प्रज्वलित करना प्रारम्भ करूँगा। जैसे सूर्यकिरणों द्वारा ही संसार की सब प्रकार की ज्योतियाँ प्रदीप्त और प्रकाशित होती हैं, वैसे उस ज्ञान-सूर्य सविता परम आत्मा की किरणों द्वारा ही मैं अपनी आत्माग्नि को प्रदीप्त करूँगा। सत्यज्ञान देनेवाले सब वेदादि ग्रन्थ, सत्य का उपदेश देनेवाले सब गुरु, आचार्य, मेरे अन्दर मन की सब सात्विक वृत्तियाँ ये सब उसी ज्ञान-सूर्य की भिन्न भिन्न क्षेत्रों में फैली हुई किरणें हैं, विवस्वत् हैं। मैं इन द्वारा आज से अपनी आत्माग्नि को प्रतिदिन प्रदीप्त करता जाऊँगा। यही मेरे उद्धार का सीधा, साफ़ और चौड़ा मार्ग है।

शब्दार्थ—

(मनसा) मन द्वारा (अग्निं) अग्नि को, आत्मा को (इन्धानः) प्रज्वलित करता हुवा (मर्त्यः) मनुष्य (धियं) सद्बुद्धि को और सत्कर्म को (सचेत) प्राप्त करे। मैं (विवस्वभिः) तम को हटाने वाली ज्ञान किरणों द्वारा (अग्निं) इस अग्नि को (ईंधे) प्रदीप्त करता हूँ।

२३ वैश्वारव

**आ ते वत्सो मनो यमत्, परमात् चित्सधस्थात् ।
अग्ने त्वां कामया गिरा ॥**

ऋ० ८.११.७॥ साम० पू. १.१.१.८॥

विनय

हे परमात्मन् ! तुम्हारा स्थान बहुत ऊँचा है । तुम्हारे उत्कृष्ट पद को मैं कैसे पाऊँ ? तुम जिस दिव्य धाम में रहते हो, जिस सर्वशक्तिमय, सर्वज्ञानमय, परमानन्दमय लोक में तुम्हारा निवास है, उस परमस्थान तक मैं अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, तुच्छ जीव कैसे पहुँच सकता हूँ ? परन्तु नहीं, मैं भी आखिरकार तुम्हारा पुत्र हूँ, वत्स हूँ, प्यारा अमृत आत्मज हूँ । मैं चाहे कैसा हीन व पतित होऊँ पर स्वरूपतः अमर चिन्मय आत्मा हूँ । अतः तुम्हारा धाम मेरा भी धाम है, तुम्हारा ऊँचे से ऊँचा स्थान मेरा सहस्थान है, 'सधस्थ' है । तुम्हारे दिव्य से दिव्य स्थान से तुम्हारे पुत्र का अधिकार कैसे हट सकता है । मैं तुम्हें अपने प्रेम द्वारा तुम्हारे दूर से दूर, ऊँचे से ऊँचे पद से खींच लाऊँगा । हे पितः ! मुझे सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ

बनने की क्या जरूरत है ? मैं तो अपने अगाध प्रेम से, अपनी अनन्य भक्ति से तेरे मन को काबू कर लूँगा, तेरे मन को पा लूँगा। फिर मुझे और क्या चाहिये ? हे मेरे अग्ने ! हे मेरे जीवन ! मैं तुम्हें अपनी सर्वशक्ति से चाह रहा हूँ, कामना कर रहा हूँ। आत्मा में तुमने जो वाणी नाम्नी आत्मशक्ति रखी है, मैं उस की सम्पूर्ण शक्ति से तुम्हें ही खींच रहा हूँ। मैं अपनी आन्तर और वाह्यवाणी की समस्त शक्ति को तुम्हारे मिलन के लिये ही खर्च कर रहा हूँ। मन में तेरी ही चाह है, मन में तेरा ही जाप है, तेरी ही रटन है; "वैखरी" वाणी में भी तेरा ही नाम है, तेरा स्तोत्रपाठ है; शरीर की चेष्टाओं से भी जो कुछ अभिव्यक्त होता है वह तेरी लगन है, तेरे पाने की तड़प है। क्या तू अब भी न मिलेगा ? मैं तेरा वत्स इस तरह से, हे पितः ! तेरे मन को हर ही लूँगा। तू चाहे कितने ऊँचे स्थान का वासी हो, पर तेरे मन को जीत के ही छोडूँगा। मेरा प्रेम, मेरी भक्ति तेरे मन को खींच लेगी और फिर तेरे मन को, तेरे प्रेम व वात्सल्य को, मुझे अपनाना होगा।

शब्दार्थ—

(वत्सः) मैं वत्स (ते मनः) तेरे मन को (परमात् चित्) अति-उत्कृष्ट भी (सधस्थात्) सहस्थान से (आ यमत्) वश करता हूँ, प्राप्त करता हूँ (अग्ने) हे परमेश्वर ! मैं (त्वां) तुझे (गिरा) वाणी द्वारा (कामये) चाहता हूँ—मिलना चाहता हूँ।

* *
*

२४ वैशाख

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृडय ।
त्वामवस्युराचके ॥

यजु० २१.१॥

विनय

हे वरुण देव ! मैं कितने दिनों से तुम्हें पुकार रहा हूँ। पुकारते पुकारते अब तो बहुत काल बीत गया है । मेरी पुकार की सुनवाई और कब होगी ? लोग मुझ पर हँसते हैं। मेरी तुम्हारे प्रति व्याकुलता को देखकर मेरा ठट्ठा करते हैं और मुझे पागल समझते हैं। परन्तु मैं तो तुम्हारी शरण में आ चुका हूँ, एक मात्र तुमसे ही रक्षा पाने की आशा रखता हुवा निरन्तर प्रार्थना कर रहा हूँ और करता चला जाऊँगा । तुम ही को मेरी लाज बचानी होगी । क्या मैं ऐसे ही पुकार मचाता रहूँगा और तुम अनसुनी करते जाओगे ? नहीं, तुम्हें मेरी पुकार सुननी होगी । हे सर्वश्रेष्ठ ! हे पापनिवारक ! हे मेरी परम आत्मन् ! तुम्हें मेरी यह पुकार ज़रूर सुननी होगी। तो, अब तो बहुत काल बीत चुका है, मेरा मन अपनी इस कामना को तुम्हारे आगे कब से धरे बैठा है, क्या इसकी स्वीकृति का

समय अब तक नहीं आया है ? अब तो हे नाथ ! इसे पूरा कर दो, आज का दिन ख़ाली न जाय। बहुत बार आशा बँधते-बँधते टूट चुकी है पर आज तो निराश न होना पड़े, आज तो इस चिरकांक्षित अभिलाषा को पूरा कर दो, चिरकाल के व्यथित व्याकुल हृदय को सुखी कर दो। यह हृदय तुममें अटल श्रद्धा रखे, तुमसे कामना के अवश्यम्भावितया पूरा होने का विश्वास रखे, बड़े दिनों से तपस्या कर रहा है। बहुत सी निराशाओं के घावों से घायल हो चुका है, पर श्रद्धा नहीं छोड़ सकता। तो आज तो इसके दुर्दिनों का अंत कर दो, इसकी शुभाकांक्षा को मूर्त्तिमती कर दो जिससे इसकी घावों की सब व्यथा अब एक क्षण में मिट जाय। बस, आज ज़रूर, आज ज़रूर। पुकार मचाते मचाते अब पर्याप्त दिन हो चुके, तुम्हारी शरण में पड़ा मैं बहुत चिल्ला चुका, अपने इस पागल का आज तो सुदिन कर ही दो और इसे अपनी गोद में उठा लो।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण ! (मे) मेरी (इमं) इस (हवं) पुकार को (श्रुधी) सुन लो। (अद्य च) आज तो मुझे (मृडय) सुखी कर दो (त्वां अवस्युः) मैं तुम्हारी शरण में आया हुवा, तुमसे रक्षा चाहता हुवा (आचके) प्रार्थना कर रहा हूँ।

* *
*

२५ वैश्यशक्ति

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥

ऋ० ८.१४.२॥ साम० उ० ९.२.९॥ अ०२०.२७.२॥

विनय

हे शचीपते ! हे शक्ति के स्वामी ! तुम सर्वोत्कृष्ट ज्ञानमयी शक्ति के स्वामी हो; और परिपूर्ण होने के कारण इस अपनी शक्ति का जगत् के पालन पोषण में परिपूर्णतया ही सदुपयोग कर रहे हो। परन्तु मैं यद्यपि अपूर्ण जीव हूँ, तो भी मुझे अपनी शक्ति का सदा पूरा सदुपयोग ही करने में यथाशक्ति तुम्हारा अनुकरण करना चाहिये। इसलिये मैं चाहता हूँ और संकल्प करता हूँ कि यदि मैं "गोपति" होऊँ, सच्चा वैश्य बनकर भूमि, गौ, धन का (वैश्यशक्ति का) स्वामी होऊँ तो मैं इसका सदुपयोग ही करूँगा। हे सर्वान्तर्यामी परमेश्वर ! तुम मुझे ऐसी बुद्धि देना, ऐसी समझ और योग्यता देना कि मैं यह धन केवल संसार के "इस मनीषी पुरुष" के लिये ही देना चाहूँ और इसे ही दूँ; किसी अन्य को देने की मुझे कभी इच्छा तक न हो, कभी प्रलोभन तक न होवे। यह 'मनीषी' वह पुरुष होता है जोकि अपने मन का ईश है, जो कभी क्षण भर के लिये भी मन का गुलाम नहीं होता है, जो जितेन्द्रिय है, जिसे अपने पर पूरा काबू है। ऐसे ही पुरुष को दिया हुवा धन सदुपयुक्त होता है, हज़ारों गुणा फल लाता है, सर्वलोक का हित करता है।

हमारे धन के एक मात्र अधिकारी, ये आत्मवशी पुरुष ही हैं। वास्तव में हमारा सब धन, इन संयमी महानुभावों का ही है। परन्तु हे प्रभो ! बहुत बार हम किन्हीं अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण या केवल रिवाज़ के वशीभूत होकर या अपनी कमज़ोरी के कारण, अजितेन्द्रिय लोगों—भोगी विलासी 'सन्तों'—को दान दे देते हैं। ओह ! यह तो तुम्हारी दी हुई धन शक्ति का घोर दुरुपयोग है, यह पाप है। यह दान नहीं है, यह या तो रिश्वत है या आत्मघात करना है। नहीं, यह सम्पूर्ण मनुष्य समाज का व राष्ट्र का घात करना है, द्रोह करना है। जो मनीषी नहीं हैं उन्हें धन देने का विचार भी हमारे मन में नहीं आना चाहिये, देने की इच्छा (दित्सा) ही नहीं होनी चाहिये। जिसे अपने पर काबू नहीं उसके पास गया हुवा धन उस द्वारा सर्व-नाश का कारण होता है। इसलिये, हे शचीपते ! मुझे इतनी शक्ति प्रदान करो कि मैं अनुचित दान के लिये स्पष्ट 'न' कर सकूँ, भोगियों को दिये जानेवाले दान में सम्मिलित न होने की हिम्मत कर सकूँ। हे प्रभो ! मैं तो उसी को दान दूँ जो कि अपने मन का ईश होने के कारण जनता के हृदयों का भी ईश हो और अतएव जिसके पास गया हुवा धन सर्व जनता के लिये हो—सर्व जनता के कल्याण में ही स्वभावतः ठीक ठीक उपयुक्त हो जाता हो।

शब्दार्थ—

(शचीपते) हे शक्ति के स्वामी ! (यत् अहं) यदि मैं (गोपतिःस्याम्) धन भूमि आदि का स्वामी होऊँ तो [मेरी मति ऐसी होवे कि] मैं (अस्मै मनीषिणे) इस मन के ईश, पूरे जितेन्द्रिय पुरुष के लिये ही (दित्सेयं) इस धन-शक्ति को देना चाहूँ और (शिक्षेयं) इसे ही दूँ।

२६ वैशाख

दृते दृंह मा, ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ।
ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥

यजु० ३६.१९॥

विनय

हे जगदीश्वर ! मैं चाहता हूँ कि अब मैं तुम्हारी अध्यक्षता में ही जीऊँ—तुम्हारी देख में तुम्हारी आँखों के नीचे ही अपना जीवन व्यतीत करूँ। मुझे यह सदा स्मरण बना रहे कि तुम मुझे देख रहे हो। मेरा एक एक कार्य, मेरी एक एक चेष्टा, एक एक हरकत, तुम्हें साक्षी रखकर की गई हो। और इस तरह तुम्हारे सम्यक् दर्शन में—तुम्हें देखता हुवा—मैं चिरकाल तक जीऊँ। सच तो यह है कि जब मैं तुम्हारी ठीक ठीक अध्यक्षता में अपना जीवन व्यतीत करूँगा तो मेरा जीवन ऐसा स्वाभाविक-तया चलेगा कि यह स्वयमेव दीर्घजीवी हो जायगा। अतः मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से जुदा न हो जाऊँ। परन्तु तुम्हारे संदर्शन में जीना आसान काम नहीं है। मैं यह जानता हूँ कि तुम ही मेरे जीवन हो, मेरी शक्ति हो, मेरी आत्मा हो, तो भी मैं निर्बलतावश तुम्हें सदा भूला रहता हूँ। सांसारिक वायु के झोंकों के थपेड़ों से मेरी सुधबुध ऐसी भूली रहती है कि मुझ में तुम्हारी स्मृति जागृत नहीं रह सकती। इसलिये हे जगदीश्वर ! मेरी तो तुमसे यह प्रार्थना है कि तुम मुझे पहिले दृढ़ बना दो, मज़बूत बना दो, चट्टान बना दो। हे

दृते ! हे सर्वशक्तिस्वरूप ! तुम मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि संसार की घटनायें मुझे चलायमान न कर सकें। मैं सदा तुम्हें देखते रहने का यत्न करता हूँ—तुम्हें देखते रहते हुवे ही अपने सब कर्म करने का यत्न करता हू, पर यह बहुत थोड़ी देर चलता है। कोई भी सांसारिक खुशी या कोई दुःख, कोई चिन्ता आने पर वह मेरा सात्विक ध्यान जाता रहता है। कोई भी नई सी बात होने पर मेरा ध्यान उधर खिंच जाता है और मैं उस तेरे संदर्शन की सुखमय अवस्था से गिर जाता हूँ। इस लिये, हे दृते ! मैं दृढ़ता का भिखारी हुवा हूँ। मैं जानता हूँ कि मैं जब दृढ़ हो जाऊँगा तथा उस दृढ़ता द्वारा सुख में दुःख में, संपत् में विपत् में सदा तुम्हारा संदर्शन करते रहने का अभ्यासी हो जाऊँगा तो धीरे धीरे तुम्हारा यह सम्यक् दर्शन मुझमें ऐसा समा जायगा कि यह फिर मुझसे जुदा न हो सकेगा। और तब मुझे तुम्हारे ध्यान करने की भी ज़रूरत न रहेगी। जैसे कि हम दिन भर सूर्य प्रकाश द्वारा ही सब काम करते हैं पर हमें यह याद रखने की आवश्यकता नहीं होती कि हम सूर्य प्रकाश में हैं, वैसे ही तब मैं बिना यत्न किये तुम्हारे संदर्शन के प्रकाश में चौबीसों घंटे रहने सहने और जीवन व्यतीत करनेवाला हो जाऊँगा। अतः हे दृते ! मुझे ऐसा दृढ़ बना दो कि मैं कभी तुम्हारे संदर्शन से न हट सकूँ।

शब्दार्थ—

(दृते) हे समर्थ परमदृढ़ परमेश्वर ! (मा) मुझे (दृंह) दृढ़ बनादे, जिस से कि मैं (ते संदृशि) तेरे संदर्शन में, तेरी ठीक दृष्टि में (ज्योक्) चिरकाल तक (जीव्यासं) जीता रहूँ (ते संदृशि ज्योक् जीव्यासं) तेरे सम्यक् दर्शन में दीर्घ आयु तक जीवित रहूँ।

२७ वैशाख

**न घेम् अन्यत् आपपन वज्रिन् अपसो नविष्टौ।
तवेदु स्तोमं चिकेत ॥**

ऋ० ८.२.१७॥ साम० उ० १.२.३॥ अ० २०.१८.२॥

विनय

हे जगत् के ईश्वर! परममंगलकारी! मैं जो भी कोई नया कार्य शुरू करता हूँ, नया यज्ञकर्म नया शुभकर्म प्रारम्भ करता हूँ तो वह सब तेरा ही नाम लेकर, तेरे ही भरोसे तेरे ही बल पर शुरू करता हूँ। अपने हरेक कार्य का मंगलाचरण मैं तेरे ही आगे झुककर, तेरी ही मानसिक वंदना करके, करता हूँ। हे वज्रवाले! मैं तेरे सिवाय किसी भी अन्य के आगे झुककर मंगल नहीं मना सकता। क्योंकि वह पाप से निवृत्त करने वाला वज्र तो तेरे ही हाथ में है—अनिष्टों, अमंगलों और विघ्नों का वास्तव में वर्जन करानेवाला वज्र तेरे ही हाथ में है। तो हे वज्रधारिन्! मैं किसी अन्य की स्तुति करके क्या पाऊँगा? जो कार्य सचमुच एक मात्र तुम्हारे ही आश्रय से किये जाते हैं और जो मनुष्य सचमुच अपना कर्म सर्वथा तुझे अर्पण करके करते हैं तो वहाँ पराजय, असफलता या असिद्धि नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती। यह बात कइयों को जरा विचित्र सी लगेगी, किन्तु सर्वथा सत्य है। सचमुच तब सब मंगल ही मंगल हो जाता है। यह सब तेरे वज्र का प्रताप है। जो लोग केवल तेरा ही आश्रय लेकर कार्य शुरू करते हैं, सर्वथा त्वदर्पित

होते हैं उनके पास निरन्तर जागता हुवा तेरा वज्र उनकी रक्षा करता है। अतः हे परम मंगलकारी वज्रिन्! इस संसार में तू ही एक मात्र स्तुति करने योग्य है। मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ। यदि मैं किसी धनाढ्य पुरुष की स्तुति करूँ तो शायद वह मुझे मेरे कार्य के लिये धन दे देगा, किसी प्रभावशाली पुरुष की विनती करूँ तो शायद मेरे लिये उसका प्रभाव बड़ा सहायक हो जायगा; परन्तु, हे जगत् के ईश्वर! मैं जानता हूँ कि यह सब तभी होगा जब कि तेरी ऐसी इच्छा होगी। संसार के सब प्राणी, सब अमीर-ग़रीब, छोटे-बड़े सब तेरे ही बनाये हुवे पुतले हैं। संसार के बड़े से बड़े पुरुष भी तेरे ही आश्रय पर, तेरी ही इच्छा पर, जीवित हैं; तो मैं उन पुरुषों का आश्रय लेकर क्या करूँगा? जब तुझे अभीष्ट होता है कि किसी कार्य में धन, जन, बुद्धि आदि की सहायता मिले तो वह कहीं न कहीं से मिलती ही है। बल्कि हम देखते हैं कि धन, जन, मान आदि पाने के लिये जिन पुरुषों का हम भरोसा करते हैं, निरर्थक खुशामद करते हैं, वहाँ से हमें कुछ भी नहीं मिलता; किन्तु किसी दूसरी ही आशातीत जगह से वैसी सब सहायता मिल जाती है। अतः मैं तो अपने कार्यों के प्रारम्भ में किसी भी अन्य का भरोसा नहीं करता, मैं तो केवल तेरा ही पल्ला पकड़ना जानता हूँ, मैं तो तेरी ही स्तुति करना जानता हूँ।

शब्दार्थ—

(वज्रिन्) हे वज्रवाले! मैं (अपसः) कर्म के (नविष्टौ) प्रारम्भ में (अन्यत् घ ईं) अन्य किसी की भी (न आपपन) नहीं स्तुति करता (तव इत् उ) तेरी ही (स्तोमं) स्तुति करना (चिकेत) जानता हूँ।

२८ वैशाख

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥

ऋ० ८.४५.२३॥ साम० उ० १.२.७॥ अ० २०.२२.२॥

विनय

हे मेरे आत्मन् ! जब तू आत्मसुधार के लिये अग्रसर होता है, तो संसार की कई विरोधिनी शक्तियाँ तेरा मुक़ाबिला करती हैं, तुझे आगे बढ़ने से रोकना चाहती हैं। जब तू अपनी उन्नति के लिये सुधार के मार्ग का अवलम्बन करेगा तो कई अज्ञानी मूढ़ भाई उसे न समझने के कारण तेरा विरोध करेंगे, तेरी निन्दा करेंगे। जिन भाइयों के स्वार्थ में उस सुधार द्वारा धक्का लगेगा या धक्का लगने का काल्पनिक भय होगा वे 'अविष्यु' (अपनी पालना चाहनेवाले) स्वार्थ-पीड़ित पुरुष तेरे मार्ग में बेशक रोड़े अटकावेंगे, चुगली करेंगे, भ्रम फैलावेंगे और तुझे नाना प्रकार के कष्ट देंगे। पर हे मेरे आत्मन् ! तू इनसे मत घबड़ाना, मत दबना, मत नष्ट होना। तू अन्त में इन सब को अवश्य जीत लेगा। तेरा तेज अदम्य है। इसी तरह तेरे निराले कार्यों को देखकर—जिन्हें आम जनता ने अभी तक नहीं अपनाया है ऐसे नये सुधार के कार्यों को तुझे आचरण में लाते देखकर—कुछ लोग तेरी खिल्ली उड़ायेंगे, तेरा उपहास करेंगे, हँसी हँसी में बड़े तीक्ष्ण व्यंग्य करेंगे। पर हे मेरे मन ! तू इनसे भी

कभी हतोत्साह मत होना, इनसे प्रभावित मत होना; अनुद्विग्न और प्रसन्न चित्त से इन सब को सह लेना। एक समय आवेगा जब कि ये अज्ञानी मूढ़ पुरुष भी सचाई को समझ जायँगे और ये ठठ्ठा करने वाले लोग तेरे अनुयायी हो जायँगे। यह ठठ्ठा उड़ाना तथा मूर्खों द्वारा पीड़ा पहुँचाये जाना इस संसार में सुधार के साथ, उन्नतिशीलता के साथ, सदा से होता आया है और होता रहेगा। कुतर्क, ठठ्ठा, पीड़ा आदि क्रमों में से हरेक सुधार को और हरेक सुधारशील आत्मा को गुज़रना ही पड़ता है। अतः तू इनसे न दबता हुवा निर्भय होकर आगे ही बढ़ता जा, अपना काम करता जा। यदि तू इन्हें अभी पूरी तरह सहन नहीं कर सकता तो अच्छा है कि तू "ब्रह्मद्विष्" लोगों का—उन लोगों का जो ब्रह्म से (ज्ञान से या परमेश्वर से) प्रीति नहीं रखते, जो तेरे मार्ग से विपरीत मार्ग को पकड़े हुवे हैं—उनका सेवन मतकर, उनकी संगति में मत रह; उनकी उपेक्षा कर, उनसे यूँ ही बात मतकर, विना प्रयोजन उनके संपर्क में मत आ। ऐसा करने से तू अनावश्यक संघर्ष से बचेगा और तुझे अपने को दृढ़ करने का निर्बाध अवसर मिलेगा। दृढ़ हो जाने पर तो तू इन सबके मध्य में रहनेवाला गुरु हो जायगा।

शब्दार्थ—

[हे मेरे आत्मन्! हे मेरे मन!] (त्वा) तुझको (मूराः) मूढ़ (अविष्यवः अपनी पालना चाहने वाले स्वार्थ-पीड़ित लोग (मा दभन्) मत नष्ट करें, मत दबा दें और (उपहस्वानः) उपहास करने वाले, ठठ्ठा उड़ानेवाले लोग भी (मा) मत दबा दें। तू (ब्रह्मद्विषः) ज्ञान व परमेश्वर से प्रीति न रखने वाले मनुष्यों का (माकीं वनः) मत सेवन कर, मत संगति कर।

२६ वैशाख

इन्द्र इत् नो महोनां दाता वाजानां नृतुः ।
महाँ अभिज्ञु आयमत् ॥

साम० उ० १.२.१॥ ऋ० ८.९२.३॥

विनय

इस संसार के जो तेजस्वी महापुरुष हज़ारों लाखों लोगों के नेता होकर बड़े-बड़े काम कर रहे हैं, उन में उस तेज और महाबल को उत्पन्न करनेवाले इन्द्र परमेश्वर ही हैं। इस संसार में जो नाना आन्दोलन उठते और दबते रहते हैं, कभी कोई लहर चलती है कभी कोई तथा इन आन्दोलनों और लहरों में उस उस समय के सब मनुष्य बलात् खिंचे चले जाते हैं, यह सब खेल खिलानेवाले और हमें नाच नचानेवाले भी इन्द्र ही हैं। ये इन्द्र हम सब को अपना थोड़ा या बहुत तेज और बल दे रहे हैं और उस द्वारा नाच नचा रहे हैं। आज जो हममें महातेजस्वी है, वह कभी कुछ दिनों में सर्वथा निस्तेज हो जाता है तथा एक तुच्छ पुरुष कुछ ही दिनों में यशस्विता के शिखर पर पहुँचा देखा जाता है। यह सब उसका खेल है। आओ, हम अपने तेज व बल का सब

अभिमान त्याग कर, नम्र होकर, उस महान् इन्द्र की शरण में पड़ जाँय। ज़रा देखो, वह इन्द्र कितना महान् है, जो कि अकेला हम अनन्तों जीवों को कठपुतली की तरह नचा रहा है, स्थावर, जंगम सभी असंख्य प्रकार की सृष्टि को हिला रहा है! वह महान् इन्द्र इस ब्रह्माण्ड को नचा रहा है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसकी इस सृष्टि में कुछ व्यवस्था नहीं है, मनमानी या अन्धाधुन्धी है। वह हमें नाच भी पूरी व्यवस्था के साथ, अटल सत्यनियमों के साथ नचा रहा है। इस का कारण यह है कि वह "अभिज्ञु" है, सब के अभिप्रायों को एक दम जानता है, सर्वान्तर्यामी है, इस सब ब्रह्माण्ड की वह आत्मा है। हम सब अनन्तों प्राणियों के हृदयों में आत्मा की आत्मा होकर, अन्तर्यामी होकर, वह अकेला ही बैठा हुवा अनन्त-जीवरूप अनन्त-चक्रों वाले इस महायन्त्र को चला रहा है। अहो, वह इन्द्र परमेश्वर कितना महान् है! कितना महान् है!!

शब्दार्थ—

(इन्द्रः इत्) इन्द्र ही (नः) हमें (महोनां, वाजानां दाता) तेजों और बलों का देनेवाला तथा (नृतुः) नचानेवाला वह (महान्) महान् है और (अभिज्ञु) अभिप्राय को जाननेवाला, अन्तर्यामी होता हुवा (आयमत्) इस जगत् को व्यवस्था में बाँधे हुवे है।

*

* *

३० वैशारद्य

इन्द्रो अङ्ग महद् भयम् अभीषत् अप चुच्यवत् ।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥

ऋ० २.४१.१०॥

विनय

हे प्यारे ! तू क्यों घबराता है ? तेरे सामने जो भय उप-स्थित है उससे बहुत बड़े भय और बहुत भारी विपत्तियें मनुष्य पर आ सकती हैं और आती हैं। परन्तु हमारे परमे-श्वर उन सब को क्षण में टाल सकते हैं और टाल देते हैं। उसके सामने, उसके मुकाबिले में आये हुवे, महान् से महान् भय पल भर भी नहीं ठहर सकते हैं। हे प्यारे ! तू देख कि इस संसार में एक वह इन्द्र ही स्थिर वस्तु है, वही सत्य है, सनातन, अटल, अच्युत है, कभी नष्ट न होनेवाला है। और सब कुछ—सभी कुछ क्षणभंगुर है, विनश्वर है, अशाश्वत है और चले जानेवाला है। यही एक महासत्य है जिसे सिखाने के लिये संसार में चौबीसों घंटों की घटनायें हो रही हैं। हे मनुष्य ! तू इस महासत्य पर विश्वास कर और निर्भय हो जा। वास्तव म संसार के सब दुःख, क्लेश, भय, संकट टल जानेवाले हैं, नश्वर हैं; क्योंकि य नश्वर वस्तुओं द्वारा और अज्ञान द्वारा बने हैं। संसार में जो अनश्वर है, अटल है वह तो परमेश्वर

ही है। इस समय चाहे तुझे यह भय ही भय चारों तरफ नज़र आता हो, पर उस अटल इन्द्र की शरण पकड़ने पर यह सब अभी जाता रहेगा जैसे कि सदा रहनेवाले अटल सूर्य (इन्द्र) के सामने से नष्ट होजानेवाले बादलों का भारी से भारी समूह जाता रहता है, छिन्न भिन्न हो जाता है, वह सदा सूर्य को घेरे नहीं रह सकता। अतः हे प्यारे! तू अब उस परमेश्वर की ही शरण पकड़, जोकि स्थिर है और "विचर्षणि" है—जोकि सदा रहनेवाला है और इस सब जगत् को ठीक ठीक देखनेवाला सर्वज्ञ है। यह समझ लेते ही तेरे सब भय मिट जायँगे। इन्द्र को स्थिर और विचर्षणि जान लेना ही उसकी शरण में आजाना है। जिसने सचमुच उसे एक मात्र नित्य और सर्वज्ञ वस्तु करके देख लिया है वह उसे छोड़कर और कहाँ अपना आश्रय टिका सकता है और जिसने उसके इस रूप को देख लिया उसके सामने कौन सा भय ठहर सकता है? इसलिये, प्यारे! तू घबरा मत, तू उसकी शरण को पकड़। यह सामने आये हुवे इस छोटे से छोटे भय को ही नहीं मिटा देगा, किन्तु एक दिन आयगा जब कि यह जगदीश्वर तुझसे संसार के सबसे भारी भय को, संसार-बंध के महान् भय को, बार बार जीने मरने के महाभय को भी छुड़ाकर तुझे सदा के लिये अजर, अमर और अभय कर देगा।

शब्दार्थ—

(अङ्ग) हे प्यारे! (इन्द्रः) इन्द्र परमेश्वर तो (अभीषत्) सामने आये हुवे (महद् भयं) बड़े भय को भी (अप चुच्यवत्) विनष्ट कर देता है। (स हि) वह ही निश्चय पूर्वक (स्थिरः) स्थिर है, अचल है, शाश्वत है और (विचर्षणिः) सब जगत् को ठीक ठीक देखनेवाला है।

३१ वैशाख

इन्द्रश्च मृडयाति नो, न नः पश्चात् अघं नशत्।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥

ऋ० २.४१.११॥

विनय

भाइयो ! इसमें सन्देह नहीं है कि इन्द्र भगवान् तो हमें सदा सुख ही दे रहे हैं, निरन्तर हमारा कल्याण ही कर रहे हैं, फिर भी जो असुख हमारे सामने आता है, हमें दुःख देखना पड़ता है; उसका कारण यह है कि हमने अपने पीछे पाप को लगा रखा है और पाप का परिणाम दुःख होना अटल है, अनिवार्य है। यदि हमारे पीछे पाप न लगा हो तो हमारे सामने भद्र ही भद्र आता जावे। जब हम कोई पाप करते हैं तो समझते हैं कि वह वहीं ख़तम हो गया। हम समझते हैं कि दो घंटे पहिले किया हुवा हमारा पाप तभी दो घंटे हुवे उसके कर्म के साथ ही समाप्त हो चुका, अब उसका हमसे कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरह हम पाप करके आगे चलते जाते हैं और चाहते हैं तथा आशा करते हैं कि आगे आगे हमारे लिये भद्र ही भद्र आता जावे। पर हमें मालूम रहना चाहिये कि हमारा किया हुवा पाप चाहे हमारी आँखों के सामने नहीं आ खड़ा होता हो पर वह नष्ट भी नहीं होता है। वह तो हमारे पीछे लग जाता है और तब तक हमारा पीछा नहीं छोड़ता है जब तक कि वह हमारे आगे अभद्र, अकल्याण व दुःख के रूप में आकर हमें फल नहीं भुगा

लेता। अतः याद रखिये कि हमें न दिखाई देता हुवा, हमारे पीछे रहता हुवा ही हमारा पाप एक दिन हमारे आगे अभद्र व क्लेश के रूप में आता है और अवश्य आता है, जैसे कि हमारा हरेक पुण्य भी पीछे रहता हुवा, दिखाई न देता हुवा एक दिन हमारे आगे भद्र के रूप में आता है। यह हमारी कितनी मूर्खताभरी इच्छा है कि हम चाहते तो यह हैं कि हमारा सदा भला ही होवे, हमारे सामने सदा सुख, स्वास्थ्य, समृद्धि आदि ही आते जावें, पर साथ ही हम पाप करना भी नहीं छोड़ना चाहते! यह कैसे हो सकता है? हमारे पीछे तो हमारा नाश करता हुवा, हमारा पाप चल रहा होता है और हम मूर्खतापूर्ण आशा में यह प्रतीक्षा करते होते हैं कि हमारे सामने सुख आता होगा। यह असंभव है। अतः आओ, आज से हम कम से कम आगे के लिये पाप करना तो सर्वथा त्याग दें। यदि हम विशेष पुण्य नहीं कर सकते तो कम से कम इतना तो संकल्प करलें कि हम अब से एक भी पाप अपने न होने देंगे। इतना करने से भी इन्द्र भगवान् की दया से हमारे शीघ्र ही सुदिन आजायँगे, पाप का पीछा छूट जाने से भद्र के लिये मार्ग साफ हो जायगा। पर यदि हम इतना भी न कर सकें तब तो इन्द्रदेव की सुख व कल्याण की वर्षा में रहते हुवे भी हमारे भाग्य में तो दुःख ही दुःख रहेगा।

शब्दार्थ—

(इन्द्रः) परमेश्वर (च) निश्चय से (नः) हमें (मृडयाति) सुख ही देते हैं। (नः) हमारे (पश्चात्) पीछे (अघं) पाप (न नशत्) न लगे तो (नः पुरः) हमारे सामने (भद्रं) भद्र, कल्याण ही (भवाति) होवे, होता रहे।

ध्यान रहे

भस्मान्तꣳ शरीरम्

यजुर्वेद ४०—१५

यह शरीर एक
दिन राख में
मिल जाने
वाला
है

ग्रीष्म ऋतु

(त्रिष्टुप् छन्द)

ग्रीष्म की ऋतु-चर्या

लक्षण—सर्दी और गर्मी को मिलानेवाली तथा गर्मी का प्रारम्भ करनेवाली वसन्त ऋतु के समाप्त हो जाने पर जिन महीनों में गर्मी अपने पूरे रूप में पड़ने लगती है उस ऋतु का नाम ग्रीष्म ऋतु है। साधारणतः ज्येष्ठ तथा आषाढ़ के महीने ग्रीष्म ऋतु के महीने कहलाते हैं। आषाढ़ में कुछ वर्षा का भी प्रारम्भ हो जाता है इसलिये कई वैशाख और ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म ऋतु के महीने कहते हैं।

महिमा—इन दिनों सूर्य अपनी पूरी शक्ति से संसार को तपाता है। सूर्य का ताप, प्रकाश और प्राण ग्रीष्म ऋतु में अधिक से अधिक प्राप्त होता है। इसलिये सूर्य से मिलनेवाली इन अमूल्य वस्तुओं का हमें इस ऋतु में अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिये। सूर्यरश्मियों के सहारे से अपने मलों और विकारों को निकाल कर निर्मलता और पवित्रता प्राप्त करनी चाहिये। यह काल आदानकाल कहलाता है। साधारणतः समझा जाता है कि इस समय हमारा बल शक्ति आदि क्षीण हो जाते हैं। परन्तु यदि हम इस ऋतु का ठीक उपयोग करें तो इस द्वारा हमारा कोई भी वास्तविक बल क्षीण न होगा, किन्तु आदित्यदेव की पवित्रताकारक शोधक किरणों के उपयोग से केवल हमारे मल, दोष और विकार ही क्षीण होंगे। सूर्य भगवान् हमारे शरीरों में से केवल मलों और दोषों का आदान करके हमें पवित्र करेंगे।

गुण—यह ऋतु रुक्ष, पदार्थों में तीक्ष्णता उत्पन्न करनेवाली, पित्तकारक तथा कफनाशक है। इसमें वात संचित होता है। इस ऋतु में मनुष्यों की जठराग्नि तथा बल क्षीण अवस्था में होते हैं। इस ऋतु में शरीर से पसीना आदि निकल करके शरीर की शुद्धि होती है।

पथ्यापथ्य—वसन्त ऋतु में बढ़ा हुवा कफ इस ऋतु में शान्त हो जाता है। अतः इस ऋतु में स्निग्ध, शीतवीर्य, मधुर तथा सुगमता से हज़म होनेवाले हलके पदार्थों का सेवन करना चाहिये। अर्थात् गेहूँ, मूँग, जौ, दलिया, सत्तू, लप्सी, श्रीखंड, दूध, सरदाई, रसीले फल आदि भोजनों का सेवन करना चाहिये। इसके विरुद्ध जो आर्द्रक मिर्च आदि कटु भोजन, क्षार, लवण तथा खट्टे भोजन उष्ण-वीर्य होते हैं, उन्हें न्यून से न्यून मात्रा में ही उपयोग में लाना चाहिये।

इस ऋतु में शरीर और वनस्पतियों में रुक्षता और लघुता अधिक बढ़ जाने से वात बढ़ने लगता है पर काल के उष्ण होने से बहुत अधिक बढ़कर प्रकुपित नहीं होने पाता। यह आगे वर्षा ऋतु में जाकर प्रकुपित होता है। अतः इस ऋतु में अधिक वातकारक भोजन खाना तथा गर्मी से तंग आकर बहुत शीतल पदार्थों का सेवन और शीत उपचार करना भी ठीक नहीं है। इससे वात-संचित होता है जो फि वर्षा में वात-व्याधियों को उत्पन्न करेगा।

दिन में सोना यदि किसी ऋतु में लाभकर हो सकता है तो वह यह ऋतु है।

इस ऋतु में गर्मी की अत्यधिकता से नक्सीर फूटना, लू लगना आदि रोगों के होजाने की सम्भावना रहती है, अतः रक्त-पित्त व पित्त प्रकृतिवाले पुरुषों को विशेष सावधानी रखनी चाहिये। धूप और गर्मी से अपने को बचाना चाहिये। यदि बाहिर जाना हो तो सिर और पैरों को ढककर जाना चाहिये। इस ऋतु में परिश्रम की व्यायामें न करनी चाहियें प्रत्युत हलकी व्यायामें या तैरना आदि करना ठीक होता है!

हिन्दी कहावत के अनुसार ज्येष्ठ में सफ़र करना तथा आषाढ़ में बेल (बिल्व) खाना निषिद्ध है।

ज्येष्ठ मास

ज्येष्ठ (वृष)
के लिये
प्राणदायक व्यायाम

कंधों, भुजाओं और फेफड़ों में स्वस्थता तथा नीरोगता लानेवाला

(१)

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइये। भुजायें फैला लीजिये। हथेलियाँ ऊपर की तरफ़ हों। मुट्ठी बाँधने के बाद मांस-पेशियों को तान लीजिये। अब हाथों को कोहनी पर से मोड़ते हुवे सि की तरफ़ धीमे धीमे लाइये जिससे कि अँगुलियों के जोड़ कंधों को छू जाँय। दोनों हाथों को फिर धीमे धीमे वापिस ले आइये। ध्यान रखिये कि इस बीच में सारे शरीर की मांसपेशियाँ तनी रहें। जब हाथ कंधे की तरफ़ ले जारहे हों तो पूर्णश्वास अन्दर भरिये और हाथों को वापिस सीधा करते समय श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिये। अब शरीर को ढीला छोड़ दीजिये और इस तरह व्यायाम को दस बार कीजिये।

(२)

इस मास के लिये व्यायाम का दूसरा प्रकार निम्न है—

पूर्वनिर्दिष्ट विधि के अनुसार खड़े हो जाइये। दोनों हाथ नीचे की तरफ़ सीधे लटक हों। मांसपेशियों को तान लीजिये। अब दाहिना हाथ कोहनी से मोड़ते हुवे ऊपर की तरफ़ ले जाइये। जब कोहनी कंधे के साथ सम-रेखा में आ जाये तब ठहरिये। फिर हाथों को पूर्वस्थिति में वापिस ले आइये। इस बीच शरीर की मांसपेशियां तनी रहनी चाहियें। इसके बाद यही व्यायाम बांये हाथ से कीजिये। ऊपर की ओर हाथों को गति देते समय श्वास को अन्दर भरिये ताकि जब हाथ कंधे तक पहुँच जायँ तब फेफड़े श्वास से पूरे भर चुके हों। हाथों को वापिस नीचे की ओर लाते समय श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिये। अब शरीर को बिल्कुल ढीला छोड़ दीजिये और इस व्यायाम को कई बार कीजिये।

इस व्यायाम में अपना मन कंधों, भुजाओं और फेफड़ों पर एकाग्र कीजिये और उन्हें पूर्ण स्वस्थ रूप में अपने सामने चित्रित कीजिये।

ध्यान—इस व्यायाम से मेरे फेफड़ों की श्वासधारिणी शक्ति बढ़ रही है। मेरे फेफड़े दिनों दिन मज़बूत हो रहे हैं। इस व्यायाम से मैं स्वस्थ हो रहा हूँ और वास्तविक लाभ प्राप्त कर रहा हूँ।

इन अंगों को गौणतया भाद्रपद, मार्गशीर्ष और फाल्गुन की व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

*

* *

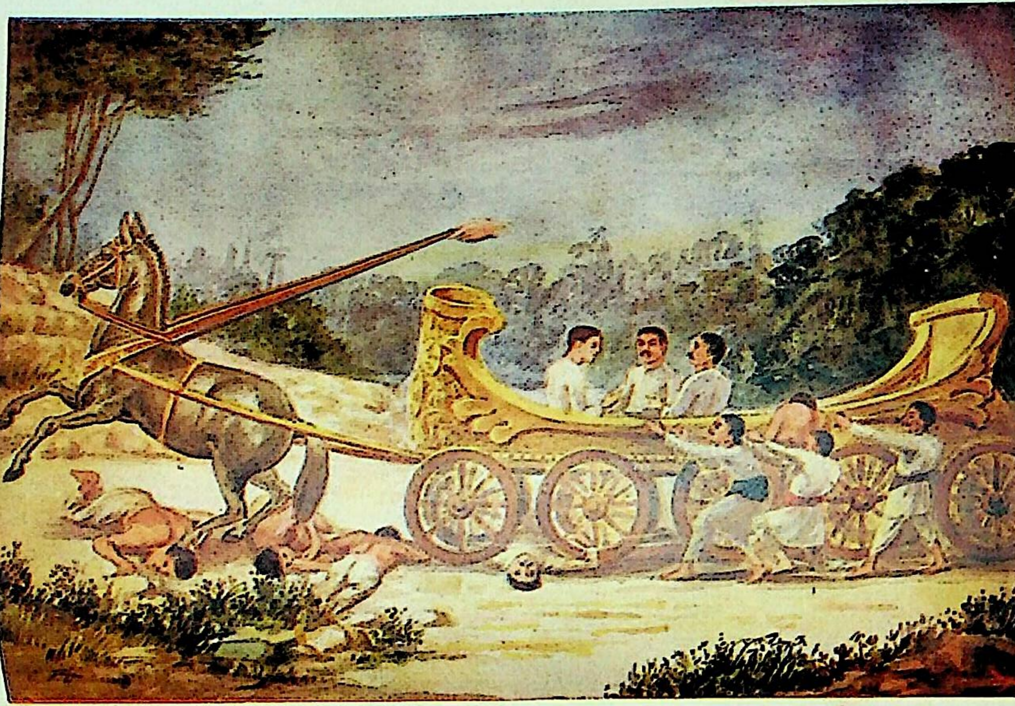
ॐ

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः, सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितः, तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥

अथर्व० १९.५३.१॥

विनय

कालरूपी महाबली घोड़ा चल रहा है। यह सब संसार को खींचे लिये जा रहा है। इस विश्व के सब प्रकार के जगतों में सात तत्व काम कर रहे हैं (सब जगतों में सात लोक, सात भूमियें हैं, सप्त प्रकार की सृष्टि है और प्रत्येक प्राणी में भी सात प्राण, सात ज्ञान, और सात धातु हैं) ये ही सात रस्सियां (रश्मियां) हैं जिनसे कि यह विश्व उस कालरूपी घोड़े से जुड़ा हुवा है। काल की महाशक्ति से जुड़कर इस ब्रह्माण्ड के सब भुवन, सब लोक, सब मनुष्य, सब प्राणी, सब उत्पन्न वस्तुयें चक्र की तरह घूम रही हैं।



कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः ।

इन असंख्य भुवनों के उत्पन्न चर या अचर पदार्थों के, असंख्यात अक्षों को (व्यक्ति केन्द्रों को) गति देता हुवा, यह महाशक्ति काल अपने इन भुवन-चक्रों द्वारा इस समस्त विश्व को चला रहा है। इस तरह यह संसार न जाने कब से चलाया जा रहा है! हम परम तुच्छ मनुष्यों का क्या कहना, असंख्यों वर्षों की आयुवाले बहुत से सौर-मंडल भी जीर्ण होकर सदा से इस अनन्तकाल में लीन होते गये हैं। परन्तु कभी जीर्ण न होता हुवा यह कालदेव आज भी अपनी उसी और उतनी ही शक्ति से इस विश्व ब्रह्माण्ड को खींचे लिये जा रहा है। इस कालदेव को मेरे कोटि कोटि प्रणाम हैं। भाइयो! क्या तुम्हें यह कभी जीर्ण न होनेवाला, सब विश्व को चलानेवाला महावीर्य अश्व दीख रहा है? पर याद रखो कि इस महावेगवान् अश्व की असवारी वे ही ले सकते हैं जो कि ज्ञानी हैं—जो कि समय को पहचानते हैं, जिनकी दृष्टि इस सबको हिलानेवाले अनन्त कालदेव के दर्शन पाकर विशाल हो गई है, अतएव जो कि क्रान्तदर्शी हैं, जोकि विशाल भूत और भविष्य को दूर तक देख रहे हैं। जो अज्ञानी या अति चंचल मनुष्य, स्थिर ज्ञान-प्रकाश को न पाकर क्षुद्र दृष्टिवाले और काल के महत्व को न पहिचाननेवाले हैं वे तो कालरथ पर नहीं चढ़ सकते हैं और न चढ़ सकने के कारण वे या तो कुचले जाते हैं या कुछ दूर तक घिसटते जाकर कहीं इधर उधर दूर जा पड़ते हैं और मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं या इसके नीचे यूँ ही पड़े रहकर नष्ट हो जाते हैं। इसीलिये काल नाम मृत्यु का हो गया है। परन्तु वास्तव में काल तो वह महाशक्तिवाला, महावेगवाला यान है, जिस पर कि सवार होकर हम बड़ी जल्दी अपना मार्ग तय करके लक्ष्य पर पहुँच सकते हैं। अतः आओ, हम आज से काल के असवार

बनें, अपने पल पल, क्षण क्षण का सदा सदुपयोग करें, इस महाशक्ति को कभी भी गँवावें नहीं और काल की इस विशालता को देखते हुवे सदा ऊँची और विशाल दृष्टि से ही समय के अनुसार अपना कर्तव्य निश्चय किया करें। काल-अश्व के असवार के ये ही लक्षण हैं। यदि हम ऐसे अश्वरोही न बन जायँगे तो हम कभी भी अपना अभीष्ट न पा सकेंगे; काल हमें घसीटता, पटकता और मारता ही रहेगा।

शब्दार्थ—

(सप्तरश्मिः) सात रस्सियोंवाला (सहस्राक्षः) हज़ारों धुरों को चलाने वाला (अजरः) कभी भी जीर्ण, बुड्ढा न होनेवाला (भूरिरेताः) महाबली (कालः अश्वः) समय रूपी घोड़ा (वहति) चल रहा है—संसार-रथ को खींच रहा हैं (विश्वा भुवनानि) सब उत्पन्न वस्तुएँ, सब भुवन (तस्य) उसके (चक्राः) चक्र हैं—उस द्वारा चक्रवत् घूम रहे हैं। (तं) उस घोड़े पर (विपश्चितः) ज्ञानी और (कवयः) क्रान्तदर्शी लोग ही (आरोहन्ति) असवार होते हैं।

* *
*

२ ज्येष्ठ

त्वां जना ममसत्येषु इन्द्र, सन्तस्थाना वि ह्वयन्ते समीके।
अत्रा युजं कृणुते यो हविष्मान्, ना सुन्वता सख्यं वष्टि शूरः॥

ऋ० १०.४२.४॥ अथर्व० २०.८९.४॥

विनय

हे परमेश्वर ! केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही नहीं किन्तु साहित्यिक, वैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रों में मनुष्य दो पक्षों में विभक्त हुवे परस्पर संघर्ष कर रहे हैं। और मजेदार बात यह है कि इन कलहों, युद्धों में दोनों पक्षवाले तुम्हारे पवित्र नाम की दुहाई दे रहे हैं। प्रत्येक कहता है कि "हमारा पक्ष सच्चा है अतः परमेश्वर हमारे साथ है, विजय हमारी निश्चित है।" परन्तु, हे मनुष्यो ! सत्य के साथ ऐसे खिलवाड़ मत करो। जरा अपने अंदर घुसकर, अन्तर्मुख होकर, अपनी

सच्ची अवस्था को देखो। 'सत्य' 'परमेश्वर' आदि परम पवित्र शब्दों का यूँ ही हल्केपन से उच्चारण करना ठीक नहीं है। यह पाप है। गहराई में घुसकर, गहरे पानी में पैठकर, सत्य वस्तु को तत्परता के साथ खोजो और देखो कि वह सत्यस्वरूप इन्द्र सदा सच्चे (वास्तविक) सत्य का ही सहायक है। इस संसार में जो लोग हाथ में "हविः" लिये खड़े हैं, आत्म-बलिदान चढ़ाने को उद्यत हैं, अपना सिर हथेली पर रखे फिरते हैं, उन त्यागी पुरुषों को ही वे परमेश्वर अपना साथी बनाते हैं, उन्हीं के वे सहायक होते हैं। क्योंकि यह ही सच्चे होने की सच्ची पहिचान है। जिसको वास्तव में सत्य से प्रेम है वह तो उस सत्य के लिये सिर पर कफन बाँध लेता है। सत्य का सच्चा पुजारी तो भंगुर शरीर की क्या, संसार भर की अन्य सब असत्य, असार वस्तुओं की बलि चढ़ा करके भी सत्य की रक्षा करता है। अतः उसे ही उस शूर, महापराक्रमी, सर्व-शक्तिमान् इन्द्र की मित्रता (सख्य) और सहायता प्राप्त होती है। यदि उस शूर की मित्रता चाहते हो तो 'हविष्मान्' होवो और सवन करनेवाले होवो। जो 'असुन्वत्' है, जो कि यज्ञ के लिये उद्योग करता हुवा सोमका सवन नहीं करता—कठोर परिश्रम करता हुवा सारवस्तु का, सत्य का, तत्व का निष्पादन नहीं करता—ऐसे पुरुष के साथ वे इन्द्र कभी मित्रता नहीं करना चाहते। अतः, हे भाइयो! ढोंग करना छोड़ दो, बिना जाने और बिना तह में घुसे यूँ ही 'सत्य,' 'परमेश्वर' आदि का नाम का पुकारना छोड़ दो। सत्य कभी छिपेगा नहीं। जब तुम में सचाई होगी तो उसके लिये सब कुछ त्याग करने को अवश्य तैयार होगे और तुम में आगे आगे सत्य-रस को, तत्व-सार को, निकाल

प्राप्त करने की उत्कट लगन भी होगी और तब तुम देखोगे कि तुम्हें वह परम सौभाग्य प्राप्त है, कि तुम शूर सर्वशक्तिमान् इन्द्र की मित्रता में हो, उसके 'युज्' साथी बने हुवे हो।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (मम सत्येषु) 'मेरा पक्ष सच्चा है, मेरा पक्ष सच्चा है' ऐसे अपने झगड़ों में, स्पर्द्धाओं में (जनाः) मनुष्य (त्वां) तुझे (वि ह्वयन्ते) विविध प्रकार से पुकारते हैं। एवं (समीके) युद्ध में, संग्राम में (संतस्थानाः) स्थित हुवे, अड़े हुवे मनुष्य भी तुझे अपने अपने पक्ष में पुकारते हैं। परन्तु (अत्र) इस संसार में, हे मनुष्यो ! (यो हविष्मान्) जो मनुष्य बलिदान के लिये तैयार है उसे ही वह इन्द्र (युजं कृणुते) अपना साथी बनाता है (शूरः) वह महापराक्रमी इन्द्र (असुन्वता) यज्ञ के लिये सवन न करनेवाले अनुद्यमी पुरुष के साथ (सख्यं न वष्टि) कभी मित्रता नहीं चाहता है।

*

* *

३ ज्येष्ठ

उरुं नो लोकं अनुनेषि विद्वान्, स्वर्वत् ज्योतिरभयं स्वस्ति।
ऋष्वात इन्द्र स्थविरस्य बाहू, उपस्थेयाम शरणा बृहन्ता॥

ऋ० ६.४७.८॥ अथर्व० १९.१५.४॥

विनय

हे परम ईश्वर ! हे सब कुछ जाननेवाले ! तुम हमें ज्ञान देकर कभी अपने विस्तीर्ण, खुले, अपार लोक में पहुँचा देते हो—उस लोक में जहाँ कि आनन्द ही आनन्द है और ऐसा आनन्द है कि उसकी प्रतिक्रिया में दु:ख, संताप का जन्म नहीं हो सकता; उस ज्योतिर्मय लोक में, जहाँ प्रकाश का साम्राज्य है और जहाँ विस्तीर्ण शुभ्र प्रकाश-सागर में अज्ञान व अंधकार की छाया तक नहीं पड़ सकती; उस लोक में जहाँ परिपूर्ण अखण्ड अभयता है, इन भय के भूतों का जिनसे कि हम यहाँ हरदम सताये रहते हैं, जहाँ नामोनिशान नहीं है; और उस लोक में जहाँ कि कल्याण ही कल्याण बरसता है, अकल्याण की जहाँ कल्पना तक नहीं हो सकती है। हे इन्द्र ! तुम ऐसे लोक के वासी हो, हम मनुष्यों को—जीवों—को वहाँ ले जा

सकते हो। हे मेरे स्वामी! अपनी बाहुओं को फैला दो और अपनी महान् शरण में हमें ले लो। हे महान् देव! तुम्हारे ये बाहू सब पाप ताप का ध्वंस करनेवाले हैं, क्लेश कष्ट का नाश करनेवाले हैं, विघ्न बाधाओं को हटानेवाले हैं। इनकी महान् शरण का आश्रय पाये हुवे को दुःख, अज्ञान, भय व अकल्याण का स्पर्श भी कैसे हो सकता है? अपने बाहू फैलाओ, करुणा-मय! हमें उठाने के लिये अपने ये वात्सल्यमय बाहू बढ़ाओ जिससे कि हम तुम्हारी परम शरण में आ बैठें, वह गोद जिस में बैठ कर कोई क्लेश नहीं, भ्रम नहीं, भय नहीं, आमय नहीं।

शब्दार्थ

(इन्द्र) हे इन्द्र! (त्वं विद्वान्) तू सर्वज्ञ (नः उरं लोकं अनुनेषि) हमें उस महान् विस्तृत लोक में पहुँचा देता है जहाँ (स्वर्वत्) आनन्द (ज्योतिः) प्रकाश (अभयं) अभयं और (स्वस्ति) कल्याण ही है। हे परमेश्वर! (ते स्थविरस्य बाहू) तुझ महान् देव के बाहू (ऋष्वा) सब विघ्न बाधाओं को नाश करनेवाले हैं (बृहन्ता शरणा) हम उस तुम्हारी [बाहुओं की] अपार शरण में (उपस्थेयाम) बैठ जायँ।

*

* *

४ ज्येष्ठ

ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीः, ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द, कर्णा बुधानः शुचमान आयोः॥
ऋ० ४.२३.८॥

विनय

प्यारो ! सत्य के माहात्म्य को देखो ! सत्य में वे सनातन ऐश्वर्य व बल हैं, जिनसे शोक रुक जाता है। एक बार सत्य-ज्ञान होने पर संसार के सब शोक—घोर से घोर दुःख—खेल दीखने लगते हैं। अनादि काल से जो भी कोई शोक के पार हो गये हैं उन सब को किसी न किसी तरह सत्यज्ञान की ही प्राप्ति हुई थी।

किसी भी वर्जनीय वस्तु से—पाप से—छुटकारा चाहते हो तो सत्य का सहारा लो। सत्य को धारण करते ही मनुष्य में और कोई बुराई नहीं ठहर सकती। जितने हद तक हम में सच की कमी होती है, उतनी ही मात्रा में हमारे अन्दर बुराई को रहने की जगह होती है। जो पूरा सच्चा है, उस में बुराई ठहर ही नहीं सकती। अतः केवल इतना आग्रह रखो कि हम सत्य का ही पालन करेंगे तो इससे हमारे अन्दर की

सब वर्जनीय वस्तुयें—आखिर ये वर्जनीय वस्तुयें पाप ही हैं और कुछ नहीं—स्वयं नष्ट हो जायँगी।

और यदि हम सच्चे हैं तो हमारी बात प्रतिद्वन्दी को भी जरूर सुननी पड़ती है, हमारी सचाई का उस पर जरूर असर होता है। यह हो ही नहीं सकता कि सचाई का असर न हो। सच्ची आवाज़ 'शुचमान' होती है, उसमें एक तेज होता है, अतएव यह जगाने वाली 'बुधानः' होती है। इस तेज के सामने स्वार्थी मनुष्य को (जो कि अपनी स्वार्थ-हानि के डर से सचाई को अनसुनी करना चाहता है) अपने कानों के द्वारों को खोलना पड़ता है। सचाई ऐसी जगानेवाली शक्ति होती है कि जो अज्ञान के कारण अभी तक समझ नहीं रहा है उस में चेतना और जागृति पैदा कर देती है। सच्ची आवाज़ सीधी हृदय में जा पहुँचती है। जहाँ सत्य की सुनाई होना पहिले असंभव पता लगता है उसे भी अन्त में सत्य को मानना पड़ता है। सचमुच ही सचाई बहिरे कानों को भी बेध कर घुस जाती है।

शब्दार्थ—

(ऋतस्य हि) सत्य की (शुरुधः) शोकनिवारक संपत्तियाँ (पूर्वीः सन्ति) सनातन हैं। (ऋतस्य धीतिः) सत्य का धारण करना (वृजिनानि) पापों का, वर्जनीय वस्तुओं का, (हन्ति) नाश कर देता है। (ऋतस्य) सत्य की (बुधानः) जगाने वाली और (शुचमानः) दीप्यमान (श्लोकः) आवाज़ (बधिरा) बहिरे (आयोः) मनुष्य के (कर्णा) कानों में भी (आततर्द) ज़बरदस्ती पहुँच जाती है।

*

* *

५ ज्येष्ठ

**पदं देवस्य नमसा व्यन्तः, श्रवस्यवः श्रव आपन् अमृक्तम्।
नामानि चित् दधिरे यज्ञियानि, भद्रायां ते रणयन्त सन्दृष्टौ॥**

ऋ० ६.१.४॥

विनय

हे देव ! हमने तुम्हारे पद के, तुम्हारे प्राप्तव्य-स्वरूप के, तुम्हारे चरणों के दर्शन पाये हैं । तुम्हें बार बार नमस्कार करते हुवे, तुम्हारी स्तुति करते हुवे, तुम्हारे आगे झुकते हुवे, भक्तिभाव से आत्म-समर्पण करते हुवे ही हमें ये तुम्हारे दुर्लभ पद के दर्शन मिले हैं। यह सब तुम्हारी भक्ति की महिमा है। इसके साथ ही मेरी पुरानी यश पाने की इच्छा भी तृप्त हो गई है। तुम्हारी कृपा से ऐसा यश मिला है जो कि मृदित नहीं हो सकता है। बाहिर के मनुष्यों से मिलने वाला यश तो उनके अधीन होता है, वह मृदित होता रहता है। पर तुम्हारे पद-दर्शन से जो मुझे अन्दर का यश मिला है वह अक्षय है, उसे पाकर अब मुझे किसी बाह्य यश की आकांक्षा नहीं रही है। तेरे सेवकों को संसार में सज्जन पुरुषों द्वारा भी बहुत सा यश मिला करता है, पर वह भी तुझ द्वारा मिले इस आन्तर-यश की ही छाया होती है। हे अग्निदेव ! तेरी भक्ति ने मुझे उबार दिया है। तेरी भक्ति का तो इतना प्रताप है कि यदि कोई तेरे यज्ञार्ह (यज्ञ में उच्चारणीय) पवित्र पुण्य

नामों को ही केवल धारण करे, उन्हें वाणी से बोलता हुवा भक्ति से हृदय में गुँजाता रहे, तो इस नामजपन, नामधारण से ही उसका अन्तःकरण इतना शुद्ध हो जायगा कि उस पर तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि हो जायगी। तुम्हारी कल्याणमयी दृष्टि में रहता हुवा वह सुख से आगे बढ़ता जायगा, उसके व्याधि,[1] स्त्यान आदि विघ्न हरण होते जायँगे, वह निर्विघ्न सुख से उन्नत होता जायगा।

तो क्या, हे अग्ने! क्या हम तेरे पवित्र नामों को भी धारण न कर सकेंगे? यह तो कम से कम है जो कि हमें तुम्हारी तरफ पहुँचने के लिये करना चाहिये। हमें तो तुम्हारे प्रेम के मार्ग में अन्त तक जाना है और एक दिन यह कह सकने योग्य होना है "हमने तेरे पद के दर्शन पा लिये हैं और अनश्वर यश के भागी हो गये हैं।"

शब्दार्थ—

(श्रवस्यवः) यश की इच्छा वाले हमने (देवस्य) तुझ देव के (पदं) प्राप्तव्य स्वरूप को (नमसा व्यन्तः) नमस्कार द्वारा देखते हुवे (अमृक्तम्) न मृदित होने वाले (श्रवः) यश को (आपन्) प्राप्त किया है जो लोग (यज्ञियानि) यज्ञार्ह (नामानि चित्) नामों को ही (दधिरे) धारण करते हैं वे भी (ते भद्रायां सन्दृष्टौ) तेरी कल्याणमयी दृष्टि में (रणयन्त) रहते हुवे सुख पाते हैं।

* *

*

१—प्रणवजप से व्याधि स्त्यान आदि ९ विघ्न हट जाते हैं। देखो योगदर्शन १—२९, ३०।

६ ज्येष्ठ

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां, सुहस्तो गोधुक् उत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नः, अभीद्धो घर्मस्तदु षु प्रवोचम्॥

ऋ० १.१६४.२६॥ अथर्व०७.७३.७॥

विनय

ग्रीष्म काल प्रचण्डता से तप रहा है, वर्षा के बिना सब वृक्ष वनस्पतियाँ भी सूखी जा रही हैं, इसलिये मैं इस मेघरूपी धेनु (माध्यमिक वाणी) को पुकार रहा हूँ। यह अकाश में फिरती हुई खूब उदक दे सकनेवाली मेघ-धेनु (माध्यमिक वाणी) आवे और अन्तरिक्षनिवासी मध्यमदेव (इन्द्र) एक कुशल दोहनेवाले की तरह, इसे दुह लेवे। ओह ? यह सब परमात्मा की इच्छा के बिना कैसे हो सकता है ? भगवान् की प्रेरणा के बिना तो संसार में एक भी हरकत नहीं हो सकती है। अतः मैं उनकी करुणा का भिक्षुक हूँ। उनकी करुणामय प्रेरणा से यह धेनु हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ रस को देवे, वर्षारूपी दूध पिला कर इस झुलसी हुई भूमि को तृप्त करदे। अरे ! यह पृथिवी रूपी घर्म[1] तप रहा है, जला जा रहा है, इसीलिये मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। परितप्त व्याकुल संसार वर्षा की माँग मचा रहा है।

१—घर्म=यज्ञ का चूल्हा।

मैं बहुत तप तप चुका हूँ, बड़े बड़े क्लेश उठा चुका हूँ, अब ज्ञान-पिपासा ने मुझे बिल्कुल व्याकुल कर दिया है। इस लिये, हे खूब ज्ञानदुग्धामृत दे सकनेवाली सरस्वती देवीरूपी धेनु! तुम आओ, हृदयान्तरिक्ष में रहनेवाला देव—जो कुशल दोहने वाला मनोदेव है—वह तुम्हें दुह देवे। उस सर्वान्तर्यामी प्रभु की ऐसी दया होवे कि मेरे लिये यह सरस्वती-धेनु अब तो उस ज्ञान-दुग्ध को दुह देवे जोकि संसार में सर्वोत्तम रस है। मुझे तप करते हुवे बहुत काल होगया है, गर्मी के वाद वर्षा आया ही करती है, तो अब तो मेरे लिये ज्ञानामृतपान करने का समय आगया होगा। मैं इसीलिये पुकार रहा हूँ, क्योंकि मुझ में ज्ञान-पिपासा की अग्नि प्रचण्डता से धधक रही है इस समय ज्ञानामृत न मिला तो मैं जल जाऊँगा, ज्ञानामृत मिल गया तो मैं इस सबको इस समय हजम कर सकता हूँ। मेरी ज्ञान-पिपासा का घर्म तुम्हें पुकार रहा है।

शब्दार्थ—

(एतां सुदुघां धेनुं) इस अच्छी दुही जानेवाली धेनु को मैं (उपह्वये) बुलाता हूँ (उत एनां सुहस्तः गोधुक् दोहत्) और अच्छा कुशल दोहनेवाला इस धेनु को दुहे। (सविता नः श्रेष्ठं सवं साविषत्) प्रेरक परमात्मा इस श्रेष्ठ रस को हमारे लिये प्रेरित करे। (घर्मः अभीद्धः तत् उ सु प्रवोचम्) घर्म खूब तप रहा है इसीलिये यह उचित विनती कर रहा हूँ।

* *
*

७ ज्येष्ठ

अप्रतीतो जयति सं धनानि, प्रतिजन्यानि उत या सजन्या।
अवस्यवे यो वरिवः कृणोति, ब्रह्मणे राजा तमवन्ति देवाः॥
ऋ० ५.५०.९॥

विनय

पीछे कदम न हटानेवाला मनुष्य ही विजय को प्राप्त करता है। ऐसा ही मनुष्य विजयी होकर ऐश्वर्यों को पाता है। प्रतिजन से सम्बन्ध रखनेवाले वैयक्तिक ऐश्वर्य तथा जन-समूह से सम्बन्ध रखनेवाले समाजिक व राष्ट्रीय ऐश्वर्य उन्हीं जनों या जन-समूहों को प्राप्त होते हैं जिनमें कि चिरकाल तक लगातार उद्योग करते जाने की शक्ति होती है; जिनमें लगन, धैर्य होता है; जिन में अड़े रहने, डटे रहने का गुण होता है; जोकि कभी क़दम पीछे हटाना नहीं जानते। जिनमें यह गुण नहीं है ऐसे व्यक्ति या राष्ट्र के लिये संसार में कोई ऐश्वर्य नहीं है। अतः हे व्यक्तियो! तुम धैर्य को सीखो; हे राष्ट्रो! तुम मिलकर अन्त तक डटे रहना सीखो।

पर इसका दूसरा पार्श्व भी है। डटे रहना, अन्याय के विरुद्ध और न्याय के लिये ही चाहिये। परन्तु प्रायः दुनिया के सब सत्ताधारी मनुष्य स्वार्थवश हो अन्याय के लिये भी डटे रहते हैं। ऐसे डटे रहनेवालों का तो—वे चाहे कितने ही

बड़े शक्तिशाली हों—विनाश ही होता है। जगत् के संचालक देव लोग तो उसी सत्ताधारी राजा की रक्षा करते हैं जो कि न्याय के लिये झुकनेवाला होता है, जो कि सत्य उपदेश देनेवाले की बात को नम्रता से सुनता है, अड़ता नहीं है, अतएव जो कि ऐसे संरक्षण चाहनेवाले सच्चे ब्राह्मणों की सदा पूजा किया करता है। सत्ताधारी लोग यदि अपना कल्याण चाहते हैं तो उन्हें चाहिये कि वे दुनियावी कोई सत्ता न रखनेवाले, सबका भला और रक्षण चाहनेवाले, नम्र, ज्ञानी पुरुष उन्हें आकर जो कुछ सुझावें उसे वे सत्कार-पूर्वक सुनें और उनकी शुभ सलाह को वे तुरत पूरा करें।

ज़रूरत इस बात की है कि निर्बल और पद-दलित लोग सत्य पर अड़ना सीखें और सत्ताधारी लोग नमना सीखें। और उससे भी अधिक ज़रूरत यह है कि प्रत्येक मनुष्य सदा देखे कि वह कहीं बलवान्, अन्यायी के सामने झुक तो नहीं जाता है, क़दम पीछे तो नहीं हटा लेता और असत्ताधारी सच्चे पुरुष के सामने अड़ा तो नहीं रहता।

शब्दार्थ—

(अ+प्रति+इतः) पीछे क़दम न हटानेवाला ही (धनानि) ऐश्वर्यों को (सं जयति) जीतता है, वे ऐश्वर्य चाहे (प्रति-जन्यानि) वैयक्तिक होवें अथवा (या सजन्या) वे सामूहिक होवें। और (देवाः) देव (तं) उस सत्ताधारी राजा की (अवन्ति) रक्षा करते हैं (यः राजा) जो कि राजा (अवस्यवे) रक्षा चाहनेवाले (ब्रह्मणे) सच्चे ब्राह्मणों की (वरिवः कृणोति) पूजा किया करता है, उनके आगे झुकता है।

* *
*

९ ज्येष्ठ

मृत्योः पदं योपयन्तो यदैत, द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेन, शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः॥

ऋ० १०.१८.२॥ अथर्व० १२.२.३०॥

विनय

संसार के हरेक प्राणी पर मृत्यु ने पाँव रखा हुवा है। जिस दिन उसकी इच्छा होती है उस दिन वह उस पाँव को दबाकर प्राणी को कुचल डालता है, समाप्त कर देता है। पर, हे नरतन-धारी मनुष्यो! तुम में वह शक्ति है जिससे कि तुम मृत्यु के उस पैर को ढकेल कर अमर बन सकते हो। इस संसार में तुम मरे हुवों की तरह न रहकर, न सड़कर, अमर पुत्रों की तरह दृढ़ता से चलो; शुद्ध, पूत और यज्ञिय बन जाओ। ऐसे बनने से तुममें वह आत्म-शक्ति जग जायगी कि तुम उस मृत्यु के पैर को ढकेल फेंकोगे। ठीक आहार, व्यायाम, तप आदि द्वारा शरीर को शुद्ध रखो, और अन्दर सत्वशुद्धि, सौमनस्य आदि लाकर अन्तःकरण को पवित्र रखो; और फिर इस शरीर और मन से यज्ञिय कर्म ही करते जाओ; इससे तुम निस्संदेह अमर निकल आओगे। यह सच है कि यज्ञिय जीवन से मृत्यु मारी जाती है, तब मनुष्य की आयु सौ वर्ष तक चलनेवाला यज्ञ हो जाता है, तब वह मनुष्य पूर्ण सौ वर्ष

की दीर्घ विस्तृत आयु को यज्ञरूप में धारण करता है। हम मरे हुवे मनुष्य तो आयु को 'धारण' नहीं कर रहे हैं किन्तु आयु के एक बोझ को जैसे तैसे ढो रहे हैं। जब शरीर को आत्मा धारे हुवे होता है तो आत्मा शरीर को पूर्ण सौ वर्ष तक स्वस्थ चलने की—जीवन-यज्ञ को सौ वर्ष तक अखंडित चलने की—आज्ञा देता है। और इस जीवन में प्रजा को सृजने द्वारा तथा धन के बढ़ाने द्वारा अपनी विकास की इच्छा को परितृप्त करके यज्ञ को पूर्ण करता है। आत्मशक्ति का प्रकाश करने के लिये ही आत्मा शरीर को धारण करता है। अतः शरीर पाकर इस जगत् में कुछ न कुछ उपयोगी वस्तु को प्रजनन करना, सृजन (Create) करना तथा जगत् के सच्चे ऐश्वर्य को (धन को) बढ़ा जाना आवश्यक है। संसार में आयी सब महान् आत्मायें इस संसार में कुछ न कुछ जगत् हितकारी वस्तु को सृजन करके तथा जगत् में किसी उच्च से उच्च ऐश्वर्य को बढ़ाकर जाती हैं। हे मनुष्यो ! उठो, मृत्युमय जीवन छोड़ो, शुद्ध पूत और यज्ञिय बनो और मृत्यु के पैर को परे हटाकर अपने अमरत्व की घोषणा कर दो।

शब्दार्थ—

हे मनुष्यो ! (यदा) जब तुम (मृत्योः पदं योपयन्तः) मृत्यु के पैर को ढकेलते हुवे (एत) चलोगे, तो (द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः) तुम दीर्घ विस्तृत आयु को धारण करनेवाले तथा (प्रजया धनेन आप्यायमानाः) प्रजा और धन से परितृप्त होवोगे। इसके लिये (शुद्धाः) बाहिर से शुद्ध (पूताः) अन्दर से पवित्र और (यज्ञियासः) यज्ञिय-जीवनवाले (भवत) हो जावो।

८ ज्येष्ठ

**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत् तत् विदुः त इमे समासते॥**

ऋ० १.१६४.३९॥ अथर्व० ९.१०.१८॥

विनय

हे मनुष्य! तू वेद की ऋचायें पढ़कर क्या करेगा, यदि तूने सब ऋचाओं की एक आधारभूत वस्तु को नहीं जाना है? उसके बिना जाने वेद पढ़ना निष्फल है, समय खोना है। वेद उसे ही पढ़ने चाहियें जिसे कि वेदमंत्रों के एक प्रतिपाद्य विषय उस अक्षरतत्व को जानने की इच्छा है जोकि 'परम-व्योम' है, एक परम आकाश है। वह इस प्रसिद्ध आकाश से भी उत्कृष्ट है, वह इतना आकाश है कि यह सब विविध ब्रह्माण्ड उसमें ओतप्रोत है। इसीलिये वह 'परमव्योम' कहाता है। उसे ज्ञानी लोग 'ओं' इस अक्षर से भी पुकारते हैं। वह विविध प्रकार से सबकी रक्षा करनेवाला (व्योम), अविनाशी (अक्षर) तत्व है। सब देवता, सब संसार, उस एक में समाया हुआ है। प्रत्येक वेदमंत्र किसी न किसी देवता की स्तुति करता है, परन्तु ये वेद प्रतिपाद्य सबके सब देवता उस ही एक देव में ठहरे हुवे हैं। इसलिये यदि उस एक देव को जानने की, उसे पाने की इच्छा है, तभी वेदमंत्रों को पढ़ो। वेदमंत्रों को इसलिये

मत पढ़ो कि उनमें से किन्हीं अपने अभीष्ट विचारों को निकालेंगे या उनके ऐसे अर्थ करेंगे जिनसे कुछ भलाई सिद्ध होगी। वेद का ऐसा पढ़ना तो निष्फल ही नहीं, किन्तु पाप है। हमें वेद-मन्त्रों के पास इस पवित्र भाव से पहुँचना चाहिये कि ये हमें उस एक देव के पवित्र चरणों में पहुँचाने के साधन होंगे। प्रत्येक वेदमंत्र में हमें उस अक्षर प्रभु का प्रतिविम्ब दिखाई देना चाहिये। इसलिये वे पुरुष जो उस तत्व को जानते हैं और जो यह जानते हैं कि सब ऋचायें उस अक्षर में हैं ऐसे ज्ञानी लोग समासीन हो जाते हैं, ठीक तरह स्थित हो जाते हैं; और यह अवस्था केवल ऐसे ही ज्ञानी लोगों को प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञानी लोगों को शान्ति-प्राप्ति होती है, सब संशयों से रहित स्वस्थता और आनन्द की एक अवस्था प्राप्त हो जाती है। वेदमंत्रों के ध्यान से वे लोग समाहित (समाधिस्थ) हो जाते हैं, उस अक्षर में लीन होने का परमानन्द पाते हैं। वहाँ ऋचाओं का पढ़ना सफल हो जाता है।

शब्दार्थ—

(ऋचः) ऋचायें, वेदमंत्र (अक्षरे) उस अक्षर अविनाशी (परमे-व्योमन्) परम आकाश में आश्रित हैं (यस्मिन्) जिसमें (विश्वेदेवाः) सब के सब देव (अधि निषेदुः) ठहरे हुवे हैं। इसलिये (यः) जो मनुष्य (तत्) उस अक्षर को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) ऋचायें, वेदमंत्र पढ़ करके (किं करिष्यति) क्या करेगा और (ये) जो (तत् विदुः) उसे जानते हैं, (ते इत् इमे) वे ही ज्ञानी लोग (समासते) समासीन होते हैं—स्वस्थ, स्वरूपस्थ, आत्मानन्द में स्थित होते हैं।

* * *

१० ज्येष्ठ

न दक्षिणा वि चिकिते न सव्या, न प्राचीनमादित्या नोत पश्चा।
पाक्याचित् वसवो धीर्याचिद्, युष्मानीतो अभयं ज्योतिरश्याम्॥
ऋ० २.२७.११॥

विनय

आजकल मैं एक अँधेरी रात्रि में घिरा हुवा हूँ। मेरे मानसिक नेत्रों के सामने एक ऐसा दुर्भेद्य काला पर्दा आ गया है जिसने कि मेरा सम्पूर्ण प्रकाश रोक लिया है। अपनी वर्तमान अध्यात्मिक समस्या को हल करने में ही मैं दिन रात डूबा हुवा हूँ; कहीं से भी कोई प्रकाश की किरण मिलती नहीं दीखती। चारों तरफ अँधेरा ही अँधेरा है—घोर गुप्प अँधेरा है। दाँयें बाँयें कहीं कुछ नज़र नहीं आता, आगे या पीछे कहीं भी इस अंधकारमय उलझन से बाहिर निकलने का रास्ता नहीं सूझता। क्या करूँ? यह भयंकर रात्रि क्या कभी समाप्त भी होगी या नहीं? इस अंधे जीवन से तो मरना भला है। खाता पीता, चलता फिरता हुवा भी मैं आज मुर्दा हूँ। चौबीसों घंटे विचारने में ग्रस्त हूँ, पागल हुवा हुवा हूँ, प्रकाश पाने के लिये निरन्तर घोर युद्ध में लगा हुवा हूँ, पर इस काली रात्रि का कहीं अंत होता नहीं दिखाई देता है। हे देवो! भगवान् के दिव्य प्रकाश का संदेश लानेवाले, हे उसके 'आदित्य' नामक दूतो! मैं तुम्हें याद कर रहा हूँ, तुम्हारी राह देख रहा हूँ।

तुम मुझे इस रात्रि से शीघ्र पार ले चलो, नहीं तो अब मेरा जीना कठिन हो रहा है। सुना है कि बुद्ध, ईसा, दयानन्द आदि अनेक महात्मा अपना दिव्य प्रकाश पाने से पहिले ऐसी अँधेरी रात्रियों में से गुज़रे थे। पर वे तो जन्म-जन्मान्तरों के पके हुवे थे और बड़े धीर थे। मैं बिल्कुल कच्चा, अपरिपक्व ज्ञानवाला और बड़ा दुर्बल, अधीर हूँ। मुझे इससे पार कौन ले जायगा! किसी तरह होवे, हे वासक आदित्यो! तुम मुझे भी बसा लो, अन्धकार से निकाल मुझे मरने से बचा लो। मैं चाहे जितना अज्ञानी, कच्चा और धैर्यरहित होऊँ, पर यदि तुम मुझे ले चलोगे—मेरे नायक बन जाओगे—तो मैं निस्संदेह अंधकार को समाप्त कर प्रकाश को पा जाऊँगा और तब इस महाभय से पार हो जाऊँगा। मेरी यह भय की अवस्था उस ज्योति को पाकर ही मिटेगी, वह अभय ज्योति! वह अभय ज्योति!!

शब्दार्थ—

(न दक्षिणा विचिकिते) न दायीं तरफ कुछ दिखाई देता है (न सव्या) और न बायीं तरफ़ (न) न तो (आदित्याः) हे आदित्य देवो! (प्राचीनं) सामने ही कुछ दिखाई देता है (न उत पश्चा) और न कुछ पीछे। इसलिये (पाक्याचित्) मैं चाहे कितना अपरिपक्व कच्चा होऊँ और (धीर्याचित्) चाहे कितना धैर्यरहित दीन होऊँ (वसवः) हे वासक आदित्यो! (युष्मानीतः) किसी तरह तुम्हारे द्वारा ले जाया गया मैं (अभयं ज्योतिः) भय-रहित प्रकाश को (अश्याम्) प्राप्त हो जाऊँ।

* *

*

११ ज्येष्ठ

न तं विदाथ य इमा जजान, अन्यद् युष्माकं अन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
ऋ० १०.८२.७॥ यजु० १७.३१॥

विनय

हे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि ये सब भुवन बनाये हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है ! तुम्हारा वह पिता है, पर तुम अपने पिता से जुदा (अन्यत्) हो गये हो, तुम्हारा उससे बहुत फ़र्क पड़ गया है। ओह ! कितना भारी अन्तर हो गया है ! मनुष्य का तो उसके प्रभु के साथ अन्तर नहीं होना चाहिये। वह प्रभु तो हम मनुष्यों की आत्मा की भी आत्मा है। उससे अधिक निकटतम वस्तु तो हमसे और कोई है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। सचमुच वे परम-आत्मा हमारी आत्मा में भी व्यापक हैं। उनसे निकट हमारे और कोई नहीं है। फिर वे हमसे दूर क्यों हैं ? इसका कारण यह है कि हमारे और उनके बीच में प्रकृति का परदा आगया है। हम दो प्रकार के परदों से ढके हुवे हैं, जिससे कि वह इतना निकटस्थ भी हमसे इतना दूर हो गया है। एक प्रकार के (तमोगुण-बहुल) लोग तो "नीहार" अज्ञान से ढके हुवे हैं जिसकी धुंध में इतने पास में भी उन्हें नहीं देख पाते; दूसरे (रजोगुण-बहुल) लोगों ने "जल्पि" से, विद्या के शब्दाडम्बर से, पढ़ी लिखी मूर्खता से, निरर्थक जल्पना के परदे से अपने आप को ढक लिया है। ये दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी

अपनी दिशा में इतनी दूर बढ़ते गये हैं कि प्रभु से दिनों दिन दूर होते गये हैं। नीहारावृत लोग तो संसार में "असुतृप्" होकर विचर रहे हैं। वे खाते पीते मौज करते हुवे निरन्तर अपने प्राणों के तर्पण करने में ही लगे हुवे हैं। कामनाओं इच्छाओं का निवास मनुष्य के सूक्ष्म प्राण में ही है। ये ज्यों ज्यों अपनी बढ़ती जाती हुई अनगिनत कामनाओं को तृप्त कर अपनी इन कामनाओं को पुष्ट करते जाते हैं, त्यों त्यों ये प्रभु से दूर होते जाते हैं। इसी तरह दूसरे जल्पावृत लोग "उक्थशास्" होते हैं अर्थात् संसार में बड़े बड़े शास्त्र पढ़कर, वादविवाद वितण्डा में चतुर होकर, दूसरों को ज़ोरदार व्याख्यान देते फिरते हैं, पर अपने आपको नहीं पहचानते। ये जितने भारी वक्ता, लेखक, और शास्त्रार्थकर्त्ता होते जाते हैं उतने ही ये बाह्य शब्द जाल में ऐसे उलझते जाते हैं कि अन्दर के देखने के अयोग्य होते जाते हैं, अतः अन्दर के आत्मस्थ प्रभु से दूर होते जाते हैं।

इसलिये आओ, हम लौटें। अपने अन्दर की तरफ लौटें और अपने उस आत्मा के आत्मा को पा लेवें जिसके साथ हमें निरन्तर जुड़ा रहना चाहिये।

शब्दार्थ

हे मनुष्यो ! (तं न विदाथ) तुम उसे नहीं जानते (य इमा जजान) जिसने कि इन सब (भुवनों) को बनाया है। (अन्यत्) तुम अन्य प्रकार के हो गये हो और (युष्माकं अन्तरं बभूव) तुम्हारा उससे बहुत फ़र्क हो गया है। (नीहारेण) अज्ञान के कोहरे से (प्रावृताः) ढके हुवे और (जल्प्या च) अनृत और निरर्थक शब्दजाल से ढके हुवे हम मनुष्य (असतृपः) प्राणतृप्ति में लगे हुवे होकर या (उक्थशासः) आडंबर वाले बहुभाषी होकर (चरन्ति) भटकते हैं।

१२ ज्येष्ठ

वयः सुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं, प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्त मूर्णुहि पूर्धि चक्षु र्मुमुग्धि अस्मान्निधयेव बद्धान्॥

ऋ० १०. ७३.११॥ साम०पू० ४.१.३.७॥

विनय

हमारे शरीर में पाँच इन्द्रियाँ रहती हैं। ये पक्षियों की तरह बाहिर उड़ती फिरती हैं। ये ऋषि इन्द्रियाँ हैं, ज्ञान लाने वाली ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इन्हें अपने रूप रसादि विषयों से संगमन करना बड़ा प्रिय है। इनका उड़ना (पतन करना) बड़ा सुन्दर है। बाहिर से बड़े सुन्दर सुन्दर रूपों को, रसों को, गन्धों को ये कैसी विलक्षणता से ले आती हैं! इनमें क्या ही अद्भुत गुण है! आंख खोलो, तो सब विविध जगत् दीखने लगता है, आंख बन्द करने पर कुछ नहीं। आँख में क्या विलक्षण शक्ति है! इसी तरह कान को देखो, जीभ को देखो, इनमें क्या विचित्र जादू है कि ये हमारे लिये बड़े ही आनन्ददायक अनुभूतियों (Sensations) को पैदा करते हैं।

पर एक समय आता है जब ये इतनी अद्भुत इन्द्रियाँ हमारी ज्ञानपिपासा को तृप्त नहीं कर सकतीं। ये बाहिर से जो प्रकाश लाती हैं वह सब तुच्छ लगने लगता है। यह तब होता है जबकि छठी इन्द्रिय (मन) द्वारा अंदर के प्रकाश की तरफ़ हमारा ध्यान जाता है, प्रत्याहार शुरू होता है और इन्द्रियों का उड़ना बंद होजाता है। सब इन्द्रियाँ मन के प्रकाश के मुकाबिले में बैठकर अपने अंधकार को और अपनी परिमितता

के बंधन को अनुभव करती हैं। ओह ! इन्द्रियाँ कितना थोड़ा ज्ञान दे सकती हैं और वह ज्ञान भी कितना बँधा हुवा है ! अंदर बाहिर की थोड़ीसी बाधा से उनका ज्ञान-ग्रहण रुक जाता है। आँख अति दूर, अति समीप नहीं देख सकती, अतिसूक्ष्म को नहीं देख सकती, ओट में पार नहीं देख सकती। यह अँधेरा और यह बंधन तब अनुभव होता है जबकि मनुष्य को अंदर के महान्, सब कुछ जान सकनेवाले प्रकाश का पता लगता है। यह इन्द्र का, आत्मा का, प्रकाश है। इस प्रकाश-पिपासा से व्याकुल होकर इन्द्रियाँ आत्मा से उस प्रकाश को पाने के लिये गिड़गिड़ाने लगती हैं, प्रार्थना करने लगती हैं कि "हमारे अँधकार का पर्दा उठा दो; हमारी आँखें प्रकाश से भर दो; हम अंधे हैं हमें आँखें देदो; हम अपने अपने ज़रा से क्षेत्र में बँधी पड़ी हैं हमें देशकालाव्यवहित दर्शन की शक्ति दे दो; हमारे बंधन काट दो, हमें जिस देश और जिस काल में जिस वस्तु को देखना चाहें तुम्हारे इस प्रकाश में (प्रज्ञालोक* में) देख सकें।"

इन्द्रियाँ अपने शक्ति-स्रोत इन्द्र की शरण में न जावें तो और कहाँ जावें ?

शब्दार्थ—

वे (सुपर्णाः) शोभनपतनशील (वयः) पक्षी (प्रियमेधाः) जिन्हें मेध [संगमन] प्रिय है और (ऋषयः) जो ज्ञान लानेवाले हैं (इन्द्रं) इन्द्र के पास (नाधमानाः) यह प्रार्थना करते हुवे (उपसेदुः) आ बैठे हैं कि "(ध्वान्तं) हमारे अन्धकार को (अप ऊर्णुहि) निवारण करदो; (चक्षुः पूर्धि) हमारी आँखें भरदो या हमें आँखें देदो और हम जो (निधया इव) मानों पाशों से (बद्धान्) बँधे पड़े हैं (अस्मान्) हमें (मुमुग्धि) छुड़ादो।"

---

*तज्जयात् प्रज्ञालोकः। योगदर्शन ३—५।

१३ ज्येष्ठ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैः अङ्गैः तुष्टुवांसः तनूभिः व्यशेम देवहितं यदायुः॥

ऋ० १. ८९.८॥ यजु० २५.२१॥ साम० उ० ९.३.९॥

विनय

मन, वाणी और इन्द्रियों के अगोचर भगवान् तो हमें दीखते नहीं हैं। देवो ! उनके हाथों के रूप में हम तुम्हें ही देख पाते हैं। वे भगवान् तुम्हारे द्वारा ही इस सब ब्रह्माण्ड को चला रहे हैं। इसलिये, हे देवो ! हम तुम्हें ही संबोधन करते हैं। इस संसार में जन्म पाकर जब होश आई है तो हम देखते हैं कि हम सबने एक दिन मरना है, एक निश्चित आयु तक ही हमने जीना है। तुमने मनुष्य की सामान्य आयु सौ वर्ष की रखी है। हे 'यजत्रा'! हे यजनीय देवो ! हमें तुम्हारा यजन करते हुवे ही १००, ११६ या १२० वर्ष तक जीवित रहना चाहिये। इसके लिये, हे देवो ! हम अपने कानों से सदा भद्र का ही श्रवण करें; जो यजनीय है, जो उचित है, जो कल्याणकारी है, केवल उसे ही सुनें। आँखों से, जो कुछ यजनीय है केवल उसे ही देखें। अभद्रवस्तु, बुरी, अनुचित वस्तु में हमारे कान आँख कभी न जायँ। हे देवो ! यही तुम्हारा यजन है, यही तुम द्वारा उस भगवान् का यजन है।

हे देवो ! तुम्हारे अंशों से हमारे शरीर की एक एक इन्द्रिय और एक एक अंग उत्पन्न हुवे हैं। जिस जिस देव से हमारा जो जो इन्द्रिय व अंग बना है, उस उस अंग द्वारा सदा भद्र का सेवन करना ही उस उस देव का यजन करना है। हे देवो ! इसी तरह हम अपनी एक एक इन्द्रिय से तुम्हारा यजन करते रहेंगे। हमारे हाथ और पैर सदा भद्र का ही सेवन करने के कारण पूर्ण आयु तक चलने योग्य, दृढ़ और बलवान् होंगे। इन दृढ़ हाथों और पैरों से हम जो कुछ ग्रहण करते हैं, जो कुछ चलते हैं, वह सब तुम द्वारा प्रभु की स्तुति करना है। एवं हम अपने एक एक बलिष्ठ स्वस्थ अंग से जो भी कुछ भद्र चेष्टा व हरकत करते हैं, हे देवो ! वह सब प्रभु-यजन है। हम चाहते हैं कि इसी तरह हम अपने एक एक अंग से सदा भद्र ही करते हुवे तुम्हारी दी हुई यज्ञिय आयु को पूर्ण कर दें।

अहा ! अपने स्वस्थ, बलिष्ठ, पवित्र अंगों द्वारा सदा भद्र का ही सेवन करनेवाले के लिये यह जीवन कैसा एक पवित्र यज्ञ बन जाता है।

शब्दार्थ—

(देवाः) हे देवो ! हम (कर्णेभिः) कानों से (भद्रं) भद्र का ही (शृणुयाम) श्रवण करें। (यजत्राः) हे यजनीय दैवो (अक्षभिः) हम आँखों से (भद्रं पश्येम) भद्र को ही देखें। (स्थिरैः अंगैः) अपने मज़बूत अंगों से, (तनूभिः) शरीरों से (तुष्टुवांसः) सदा स्तुति पूजन करते हुवे ही (यत् देवहितं आयुः) जो हमारी देवों द्वारा स्थापित आयु है उसे (व्यशेम) प्राप्त करलें।

* *

*

१४ ज्येष्ठ

**अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, सं भ्रातरो वावृधुः सौभगाय।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां, सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः॥**

ऋ० ५.६०.५॥

विनय

संसार भर के सब मनुष्य (मरुत) परस्पर भाई भाई हैं। मनुष्यमात्र एक ही माता पिता के पुत्र हैं। संसार के किसी देश के एक कोने में रहनेवाले मनुष्य के उसी तरह पिता "रुद्र" परमेश्वर है और माता "पृश्नि" प्रकृति है जैसे कि किसी दूसरे कोने के रहनेवाले के। मनुष्य की दृष्टि से इनमें न कोई बड़ा है और न छोटा है। काले गोरे, हबशी और सभ्य, पूँजीपति और श्रमी, पौर्वात्य और पाश्चात्य, ब्राह्मण और अछूत, हिन्दू और मुसलमान, जापानी या अमेरिकन, अंग्रेज या हिन्दुस्तानी, नागरिक व देहाती सबके सब एक समान परस्पर मनुष्य भाई हैं। इन में ऊँच नीच मानना अज्ञान है। मनुष्य की दृष्टि से छोटा बड़ा मानना अनुचित है। संसार भर के मनुष्यों को "मरुत् देवों" की तरह, उत्तम कल्याण के लिये मिल करके यत्न करना चाहिये, मिल करके संसार में मनुष्यता की उन्नति करनी चाहिये। जब मनुष्य मनुष्य आपस में घृणा करते हैं, भिन्न भिन्न देश के वासी होने से या भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी होने से लड़ते हैं, एक दूसरे का तोपों बन्दूकों और जहरीली गैसों से घात करते हैं, छोटे बड़े का अभिमान कर एक दूसरे पर अत्याचार करते हैं, तब वे अपने एक समान

पिता माता को भूल जाते हैं। क्या अंग्रेज़ भाइयों को पैदा करनेवाला प्रभु और है और भारतवासियों का और? वह एक ही रुद्र हम सब मरुतों का पिता है। वह कभी बुड्ढा न होने वाला, कभी न मरनेवाला पिता है। वह हम सब के लिये कल्याण-कर्म करनेवाला पिता है। और हम सब की माता यह प्रकृति है जो कि हमारे लिये उत्तम ऐश्वर्यों का दूध प्रदान कर रही है और हमें सब सुख पहुँचा रही है। आओ! हम इन सब झूठे भेदभावों को भूलकर—काला गोरा, पूँजीपति श्रमी, छूत अछूत, इस देशवासी और उस देशवासी इन सब भेदों को भूलकर—हम सब मनुष्य, सब के सब मनुष्य, मिलकर मनुष्यमात्र के हित का ध्यान करें; एक दूसरे के हित का ध्यान करें। अपने शोभन कर्म करनेवाले अमर पिता के आशीर्वाद को पाते हुवे और करुणामयी सुखदात्री माता द्वारा अपनी सब कामनायें पूरी करते हुवे अपनी उन्नति का साधन करें और भाई भाई की तरह एक दूसरे की सहायता करते हुवे मनुष्यता के उद्देश्य की पूर्ति में बढ़ते जायँ।

शब्दार्थ—

(अज्येष्ठासः) जिनमें कोई बड़ा नहीं है और (अकनिष्ठासः) जिनमें कोई छोटा नहीं हैं ऐसे (एते) ये सब (भ्रातरः) परस्पर भाई (सौभगाय-सं वावृधुः) उत्तम ऐश्वर्य के लिए मिलकर उन्नति करनेवाले हैं। (एषां) इन सबका (युवा पिता) सदा युवा पिता (स्वपा रुद्रः) कल्याण-कर्म करनेवाला रुद्र परमेश्वर है और (मरुद्भ्यः) इन मरुतों—मनुष्यों—के लिये (सुदिना) * सुख देनेवाली (सुदुघा) उत्तम दूध देनेवाली माता (पृश्निः) प्रकृति है।

* सुदिन इति सुखनामसु पठितम्।

१५ ज्येष्ठ

का त उपेतिर्मनसो वराय, भुवदग्ने शंतमा का मनीषा।
को वा यज्ञैः परि दक्षं त आप, केन वा ते मनसा दाशेम॥

ऋ० १.७६.१॥

विनय

हे अनन्त देव ! हम परिमित मनुष्य किसी भी प्रकार से तेरे संपूर्ण रूप को ग्रहण नहीं कर सकते। हम अपने अपूर्ण साधनों द्वारा तेरे पास पहुँचने के लिये—तुझे वर लेने के लिये जीवन भर यत्न ही करते रहते हैं। हमारे मन में यह सामर्थ्य नहीं कि वह तेरे परिपूर्ण रूप को कभी मनन कर सके। तो तेरे पास पहुँचने का साधन, उपाय हमारे पास क्या है ? हम कभी समझते हैं कि शायद हम हार्दिक भक्ति करके तुझे सुख पहुँचा लेंगे। पर यह तो हमारा तेरे विषय में सांसारिकभाषा में बोलना मात्र है। भक्ति से हमें बेशक बड़ा लाभ मिलता है, पर हमारी हार्दिक प्रार्थनाओं या स्तुतियों का तुझ पर वास्तव में किसी प्रकार का प्रभाव नहीं होता। तू तो शुद्धस्वरूप में अलिप्त रहता है। मनुष्य समझते हैं कि यज्ञ तो बड़ी व्यापक वस्तु है अतः शायद यज्ञ तेरी परिपूर्ण वृद्धि और बल को ग्रहण करने में पर्याप्त हो सकेंगे। पर ऐसा नहीं होता। तू केवल अपने ही परिपूर्ण यज्ञ से अपने को पा सकता है। पर मनुष्य के किये यज्ञ तो कभी ऐसे परिपूर्ण नहीं हो सकते कि उन यज्ञों

से तेरी अनन्त महत्ता का; तेरे अनन्तबल का, पार पाया जासके। ये सब यज्ञ कुछ कुछ अंश में ही तुझे व्याप्त कर पाते हैं। हम तो बेशक तेरे उतने अंश की प्राप्ति से ही कृत-कृत्य हो जाते हैं "प्यासे को तो एक लोटा भर पानी काफ़ी है, उसे समुद्र की गहराई मापने की क्या जरूरत ?"※ पर यह सत्य है कि हम तेरी गहराई को माप नहीं सकते, यज्ञ भी इस में असमर्थ हैं। यह क्यों न हो ? क्योंकि सब स्तुति, भक्ति और यज्ञ आदि हम अपने मन द्वारा ही तो करते हैं और इस हमारे मन में शक्ति ही कितनी है ? अतः यह कहना चाहिये कि हमारा मन ही तुम्हारे योग्य नहीं है। मनुष्य के क्षुद्र मन की तुम अगम तक पहुँच ही नहीं हैं। तो वह मन हम कहाँ से लावें जिस द्वारा हम अपनी यह भक्ति व यज्ञ व ज्ञान की आहुति तुझ तक पहुँचा सकें ? ओह ! सचमुच यह स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में बँधा हुवा मनुष्य तेरी परिपूर्ण उपासना—तेरी परिपूर्ण आराधना—कभी नहीं कर सकता।

शब्दार्थ—

(अग्ने) हे अग्ने ! (तं मनसो वराय) तेरे मन को वरने के लिये (का उपेति भुवत्) कौनसा उपाय—तेरे पास पहुँचने का साधन—है ? (का मनीषा शं तमा) और हमारी कौनसी हार्दिक इच्छा या स्तुति तेरे लिए सुखकारी हो सकती है ? (को वा) अथवा कौन मनुष्य है जो (यज्ञैः तं दक्षं परि आप) यज्ञ कर्मों द्वारा तेरी वृद्धि या बल को व्याप्त कर सकता है, इसके लिये पर्याप्त होता है ? (केन वा मनसा ते दाशेम) या वह मन ही हमारे पास कौनसा है जिससे हम तुझे हवि दे सकें ?

※ श्री रामकृष्ण परमहंस यह कहा करते थे।

१६ ज्येष्ठ

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय, सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयो र्यत्सत्यं यतरदृजीयः, तदित्सोमो अवति हन्त्यासत्॥

ऋ० ७.१०४.१२॥ अथर्व० ८.४.१२॥

विनय

मनुष्य जब ऊँचे वास्तविक ज्ञान को विवेकपूर्वक जानना चाहता है, जब वह सत्यज्ञान की खोज में होता है, तब उस विवेकशील पुरुष के सामने सत् और असत् दोनों स्पर्धा करते हुवे आते हैं। दोनों उसके सामने अपनी अपनी श्रेष्ठता दिखाना चाहते हैं, दोनों उसके हृदय पर कब्जा करना चाहते हैं। कभी सत् प्रबल होता है, कभी असत् प्रबल होता है इस तरह देर तक यह स्पर्धा यह लड़ाई, चलती रहती है। जब उस पर किन्हीं कुटिल और असत्य से काम निकालनेवाले लोगों का प्रभाव पड़ता है तब वह असत्यता को ही काम की चीज़ समझ लेता है और यदि वह सत्यग्रन्थों को पढ़ता है या सच्चे, निष्कपट, पवित्र लोगों के संग में आता है तो सत्य की महत्ता को समझने लगता है। फिर किसी ज़बरदस्त बलवान् नीतिनिपुण पुरुष का प्रभाव उसे यह सिखला देता है कि संसार में असत्य के बिना काम नहीं चलता है, पर फिर कोई महान् सत्यनिष्ठ पुरुष उसे सत्य का पुजारी, सत्य के पीछे पागल बना देता है। इस तरह सत् और असत् दोनों प्रकार के वचन (ज्ञान) उस पर प्रभाव जमाने के लिये स्पर्धा करते रहते हैं। पर मनुष्य को यह पता होना चाहिये, (और विवेकी पुरुष

को यह धीरे धीरे पता हो जाता है) कि मनुष्य के हृदय में बैठा हुवा सोम परमेश्वर तो सदा सत् की, अकुटिल की ही रक्षा कर रहा है और असत् को नाश कर रहा है। जो लोग इस सत्य से अभिज्ञ हो जाते हैं वे तब सोम की शरण में जाना चाहते हैं। और जो सचमुच सर्वोच्च सत्य ज्ञान की खोज में लगे हुवे हैं उन्हें इसी हृदयस्थ सोम देव की शरण जाना चाहिये, तभी उन्हें अपना अभीष्ट मिलेगा। क्योंकि सब भूतों के हृद्देश में बैठे हुवे सोम ईश्वर के आश्रय को मनुष्य जितना ही अधिक सर्वतोभाव से ग्रहण करता है उतना ही उसमें असत्य का नाश होकर सत्य और निष्कपटता बढ़ती जाती है और उसमें सुविज्ञान भरता जाता है। अतः इस सत् और असत् की लड़ाई में मनुष्य जितना ही सोम का आश्रय लेगा उतनी ही जल्दी उसमें सत्य की विजय होगी, और उसे शान्ति मिलेगी। हर एक जीव की इस सत् असत् की स्पर्धा में जल्दी या कितनी ही देर में अन्ततःसोम परमेश्वर द्वारा विजय तो सत्य की ही होनी निश्चित है। क्योंकि वे सोम सदा सत्य का, सत्यवचन का, सत्यव्यवहार का रक्षण कर रहे हैं और असत्य का, असत्यभाषण का, असत्य व्यवहार का हनन कर रहे हैं।

शब्दार्थ—

(सुविज्ञानं) उत्तम विशेषज्ञान को (चिकितुषे) जानना चाहने वाले विवेकी (जनाय) मनुष्य के लिये (सत् च असत् च) सत्य और असत्य (वचसी) वचन या ज्ञान (पस्पृधाते) परस्पर स्पर्धा करते हैं। (तयोः) इन दोनों में से (यत्सत्यं) जो सत्य है (यतरत् ऋजीयः) जौनसा सरल, अकुटिल, छलरहित है (तत् इत्) उसे ही (सोम) सोम परमेश्वर (अवति) रक्षा करता है (असत् हन्ति) और असत् का नाश करता है।

१७ ज्येष्ठ

वि मे कर्णा पतयतो वि चक्षुः, वीदं ज्योतिर्हृदय आहितं यत्।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः, किं स्विद् वक्ष्यामि किमु नू मनिष्ये॥

ऋ० ६.९.६॥

विनय

हे प्रभो ! मैं चाहता हूँ कि मैं बिल्कुल एकाग्र होकर अपनी मानसिक वाणी द्वारा तेरा नाम जपूँ या तेरा मनन करूँ, तेरा ध्यान करूँ। परन्तु जब मैं ऐसा करने के लिये बैठता हूँ तो कुछ भी शब्द सुनाई पड़ते ही मेरे कान वहाँ दौड़े जाते हैं, आँखों के सामने कुछ भी आते ही मैं वहाँ देखने लगता हूँ। कभी कान कुछ सुनने लगते हैं, कभी आँखें कुछ देखने लगती हैं। और यदि मैं किसी ऐसे स्थान पर जाकर बैठता हूँ जहाँ शब्द और रूप आ ही न सकें, तो भी मैं देखता हूँ कि मेरा मन ही अन्दर अन्दर सब कुछ देखता, सुनता रहता है। दिन रात की किसी बात का स्मरण आते ही मन वहाँ भाग जाता है और वहाँ की बात सोचने लगता है। तब पता लगता है कि मेरा मन कितनी दूर पहुँचा हुवा है। और यदि किसी दिन कोई मन पर चोट लगानेवाली बात हो चुकी होती है तब तो मन बार बार वहीं पहुँचता है—रोकने का बड़ा यत्न करने पर भी क्षण क्षण में वहीं जा पहुँचता है। मेरे हृदय में जगने वाली वह ज्योति भी—जो वातरहित स्थान में रखे हुवे दीपक की शिखा की तरह बिल्कुल अनिङ्गित, बिल्कुल ही न हिलती हुई,

एक रस जलती हुई रहनी चाहिये—वह ज्योति, वह ज्ञान-ज्योति भी सदा इधर उधर हिलती रहती है, मनोवृत्तियों की हवा लगते रहने से हिलती रहती है। तो फिर मैं तेरा ध्यान कैसे कर सकता हूँ ? एकाग्रता से तेरा नाम कैसे जपूँ ? तेरा मनन कैसे करूँ ? और यदि प्रतिदिन तेरा इतना भी भजन न कर सकूँगा तो उस दिन जब कि मेरी यह जीवन-साधना समाप्त होगी, उस दिन तुम्हें क्या उत्तर दूँगा ? तुम्हारे सामने किस बात का अभिमान कर सकूँगा ? यह जीवन, ये सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ, तुमने मुझे तुम्हारे समीप पहुँचने की साधना ही के लिये दी हैं। तो उस दिन जब कि तुम यह शरीर वापिस माँगोगे तब मैं तुम्हें क्या उत्तर दूँगा ? क्या मुँह दिखलाऊँगा ? हे प्रभो ! शक्ति दो कि मेरे मन की आज्ञा के बिना मेरे ये कान, आँख आदि कहीं न जा सकें और यह मन भी हृदय की ज्योति के साथ मिल जाया करे—ज्योति एक-रस जगती रहे। ऐसी अवस्था दिन में दो बार सन्ध्योपासना के समय तो हो जाया करे, नहीं तो मैं क्या मुँह दिखाने लायक रहूँगा ?

शब्दार्थ—

(मे कर्णा वि पतयतः) मेरे दोनों कान इधर उधर जा रहे हैं **(चक्षुः वि)** मेरी आँख इधर उधर विविध स्थानों पर पड़ रही है **(हृदये आहितं यत् ज्योति [तत्] इदं वि)** हृदय में स्थापित जो यह ज्ञानरूप ज्योति है वह भी विविध स्थानों पर दौड़ रही है **(मे मनः दूरे आधीः विचरति)** मेरा मन दूर दूर चिन्ता के विषयों में विचरण करता रहता है। ऐसी अवस्था में हे प्रभो ! **(किं स्वित् वक्ष्यामि)** मैं क्या बोलूँगा, या क्या उत्तर दूँगा ? **(किम् उ नु मनिष्ये)** और मैं क्या मनन करूँगा या क्या अभिमान कर सकूँगा ?

१८ ज्येष्ठ

पृच्छे तदेनो वरुण दिदृक्षु, उपो एमि चिकितुषो वि पृच्छम्।
समान मिन्मे कवयश्चिदाहुः, अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते॥

ऋ० ७.८६.३॥

विनय

हे प्रभो ! मैं तेरे दर्शन पाने के लिये व्याकुल हूँ। तुझसे साक्षात् मिलने के लिये दिन रात प्रतीक्षा में हूँ। इसके लिये यत्न करते हुवे बहुत दिन हो गये। ऐसा एक भी साधन नहीं छोड़ा जो कि तुझसे मिलानेवाला प्रसिद्ध हो। कठोर से कठोर तप बड़े आनन्द से किये हैं। तो अब कौन सा पाप रह गया है जिससे तुम्हारे चरण-दर्शन नहीं हो पाते ? हे वरुण ! तुमसे ही पूछता हूँ, मुझे मालूम नहीं। मुझे मालूम होता तो मैं कब का प्रतीकार कर चुका होता। हे पाप-निवारक ! तुम ही मुझ दर्शनपिपासु को वह मेरा अपराध बतलाओ जिससे अप्रसन्न होकर तुम मुझे दर्शन नहीं देते। मनुष्यों में मैं जिन्हें ज्ञानी भक्त, विद्वान्, महात्मा देखता हूँ उन सब के पास जाता हूँ और जाकर यही पूछता हूँ कि वरुण देव के मुझे दर्शन क्यों नहीं होते ? पर वे सब क्रान्तदर्शी महात्मागण भी मुझे एक स्वर से यही बतलाते हैं कि वह वरुण

देव ही तुझसे नाराज़ है। वे सब सच्चे ज्ञानी मुझे यही एक उत्तर देते हैं। तो, हे देव! मैं अब तुम्हारे बिना अब और किससे पूछूँ? सचमुच अब और किसी से पूछना वृथा है। हे देव! या तो मेरा पाप मुझे दिखला दो, अपनी अप्रसन्नता का कारण बतलादो, नहीं तो मुझे दर्शन दे दो। हे मेरे स्वामी! जब मुझे अपने पाप का पता न लगेगा तो मैं उसका प्रतीकार कैसे कर सकूँगा। मैं तुम्हें प्रसन्न करके छोड़ूँगा। अपने पापों के प्रतिविधान के लिये मैं घोर से घोर प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ। अपने को पूरी तरह पवित्र कर डालने के लिये आज मैं क्या नहीं कर डालूँगा! मैं अब तुझसे मिल जाने के लिये व्याकुल हो उठा हूँ। इसीलिये, हे अन्तर्यामी प्रभो! मैं तुझसे अपने पापों को जानना चाहता हूँ। मेरे पापों के सिवाय इस संसार में और कोई वस्तु नहीं है जो कि अब मुझे तुमसे मिलने से रोक सके।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे पापनिवारक देव! (तत् एनः पृच्छे) मैं उस पाप को तुझसे पूछता हूँ [जिसके कारण मुझे तुम्हारा दर्शन नहीं हो पाता] (दिदृक्षुः) मैं तुम्हारा दर्शनाभिलाषी हूँ। (वि पृच्छं) इस विषय में विविध प्रश्न पूछने के लिये मैं (चिकितुषः) विद्वानों के (उपो एमि) पास जाता हूँ परन्तु (कवयः चित्) वे सब ज्ञानी पुरुष भी (समानं इत् मे आहुः) मुझे एक ही उत्तर देते हैं—एक ही बात कहते हैं—कि "(अयं वरुणः ह) निश्चय से यह वरुणदेव ही (तुभ्यं हृणीते) तुझसे अप्रसन्न है; उसे प्रसन्न कर।"

* *

*

१६ ज्येष्ठ

य आपि र्नित्यो वरुण प्रियः सन् ,त्वां आगांसि कृणवत्सखा ते।
मा त एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम,यन्धि ष्मा विप्रःस्तुवते वरुथम्॥

ऋ० ७.८८.६॥

विनय

हे जगदीश्वर ! यह जीव तुम्हारा सनातन बन्धु है, यह तुमसे जुदा नहीं हो सकता। यह जीव चाहे कितना पतित हो जाय पर असल में यह स्वरूपतः चेतन आत्मा ही है। इस जीवात्मा में तुम सदा स्वामी (संचालक) होकर व्याप्त हो और तुममें यह जीव-आत्मा सदा आश्रित है। एवं जीव सदा तुम्हें प्राप्त तुम्हारा 'आपिः' है और सदा तुमसे बँधा हुवा तुम्हारा बन्धु है, तुम्हारा सखा है। यह तुम्हारा साथी तुम्हें इतना प्रिय भी है कि तुमने स्वयं कुछ न भोगते हुवे भी इस जीव के भोग के लिये ऐश्वर्यों से भरा यह सब संसार खोलकर रख दिया है। पर फिर भी यह जीव—यह तुम्हारा ऐसा प्यारा सखा जीव—इस संसार में तुम्हारे प्रति अपराध करता रहता है, तुम्हारे नियमों का भंग कर तुम्हें अप्रसन्न करता रहता है।

हे यजनीय देव ! हम जीवों को इस प्रकार तुम्हारे प्रति अपराधी होने पर क्या करना चाहिये ? हमें यह चाहिये कि हम पापी होने पर तुम्हारे दिये गये भोगों को त्याग दिया करें। हे यक्षिन् ! पाप करते ही हम द्वारा तुम्हारे यज्ञ का भंग हो

जाता है और मनुष्य को बिना यज्ञ किये भोग भोगने का अधिकार नहीं है। अतः पापी होकर हमें भोग त्याग कर देना चाहिये, किसी भोग के त्याग के रूप में उस पाप का प्रायश्चित्त कर लेना चाहिये। पापी होने पर हम भोग कभी न करें। ऐसा करने से पाप का प्रतीकार हो जाता है—आगे के लिये पाप का निवारण हो जाता है। ऐसा करने से हमें तुम एक 'वरुथ' अर्थात् सुरक्षित घर वा आश्रय दे देते हो। हे जगदीश्वर! तुम सर्वज्ञ हो, मेरे हृदय को जानते हो, मुझ अपने उपासक के सब सच्चे भावों को जानते हो। अतः अब जब कभी मुझसे किसी तुम्हारे नियम का भंग होगा तो मैं किसी भोग के त्यागने के द्वारा तेरी शरण में आने के लिये अपने हाथ फैलाऊँगा। हे विप्र! हे स्वामी! तब मुझे अपना 'वरुथ' अवश्य प्रदान कीजियेगा, हाथ फैलाये हुवे मुझे अपनी गोद में स्थान देकर सुरक्षित कीजियेगा, कुछ समय के लिये अपने घर में मुझे आश्रय दीजियेगा; जिससे पवित्र होकर आगे के लिये मैं वैसा नियम भंग करने से अलग रहूँ।

शब्दार्थ—

(वरुण) हे वरुण! (यः नित्यः आपिः) जो तेरा सनातन बन्धु है वह (ते सखा) तेरा साथी (प्रियः सन्) तेरा प्यारा होता हुवा भी (त्वां आगांसि कृणवत्) तेरे प्रति पाप—अपराध—किया करता है। (यक्षिन्) हे यजनीय देव! (एनस्वन्तः) पापी होते हुवे हम (ते मा भुजेम) तेरे दिये भोग न भोगें (विप्रः स्तुवते वरुथं यन्धि स्म) इस प्रकार तुम सर्वज्ञ मुझ उपासक को अपनी शरण या घर देदो।

* *

*

२० ज्येष्ठ

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति, न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तं, उभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥
ऋ० ७.१०४.१३ ॥अ० ८.४.१३॥

विनय

जगदीश्वर सोम रूप से सब जगत् का पालन पोषण कर रहे हैं। सोम-प्रभु के जीवनदायी रस को पाकर ही सब संसार बढ़ रहा है, पुष्ट हो रहा है। पर ये भगवान् पाप को कभी नहीं बढ़ाते हैं, इनका यह सोमरस पाप को कभी नहीं पहुँचता है। और सब पापों का स्रोत—मूल—जो असत्यता है, उसे तो परमेश्वर का जीवन-रस मिलता ही नहीं है।

जब मनुष्य सदा वर्तमान 'सत्' के विरुद्ध कुछ और असत् की अपने अन्दर रचना करके धारण करता है, इस तरह दुहरी बातों को अपने अन्दर धारण करता है, तो यह 'मिथुया धारयन्' मनुष्य अपने इस दूसरे असत् द्वारा अपने आप को आच्छादित कर लेता है और एवं सत्य की सोम-धारा से अपने को वंचित कर लेता है। हरेक पाप का करना भी क्रिया

द्वारा सत् से इन्कार करना है। अतः ज्यूँही मनुष्य असत् की अपने में रचना करता है या ज्यूँही वह क्रिया से सत्य-विरुद्ध कर्म (पाप=वृजिन) करता है त्योंही उसका सत्स्वरूप जीवनरसदायी सोम से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, वह ईश्वरीय जगत् से जुदा हो जाता है, मानों वह परमेश्वर के बंधनागार में पड़ जाता है, अपने असत् द्वारा ही वह ढक जाता है, वह बँध जाता है। जहाँ परमेश्वर सोमरूप से सब ठीक चलने वालों को जीवन देकर बढ़ा रहे हैं, वहाँ इन्द्र ('इदं दारयिता') रूप से येही परमेश्वर विपरीतगामी को जुदाकर बाँधनेवाले भी हैं। इस तरह असत्य बोलनेवाला या पाप करनेवाला जीवन-रस से वंचित होकर, सूखकर नष्ट हो जाता है। इसीलिये वर्जनीय होने से पाप का नाम 'वृजिन' है तथा पाप ही 'रक्षः' कहलाता है, चूँकि इससे अपने आपको सदा रक्षित[१] रखना चाहिये। इस वृजिन को, 'रक्षः' को, वह परमेश्वर नाश ही कर देता है, कभी बढ़ाता नहीं है।

मनुष्य यदि इस सत्य को समझे, इसमें उसे ज़रा भी संदेह न हो, तो वह पाप करते हुवे घबरावे और असत्य बोलते हुवे उसका कलेजा काँपे। संसार में यद्यपि हमें दीखता है कि परमेश्वर भी पाप को ही मदद दे रहा है और झूठे को बढ़ा रहा है, परन्तु यह हम क्षुद्र बुद्धिवाले अल्पज्ञों का भ्रम है। हम अल्पज्ञ नहीं देख सकते कि किस पाप का फल कब और कैसे मिलता है, हम नहीं देख सकते कि कहीं इस समय पापी होने वाले पुरुष के भी पुराने किन्हीं पुण्यों का फल तो नहीं

१—रक्षितव्यं यस्मात्—निरुक्त ४.३.२।

मिल रहा है । इस प्रकार की अल्पज्ञता के कारण हमें भ्रम होता है। और इसीलिये (इस भ्रम को निवारण करने के लिये) यह बात कहने की आवश्यकता होती है कि सोम कभी भी पापी को बढ़ा नहीं रहा है, किन्तु बड़े बलवान् दीखनेवाले झूठे का भी नाश ही कर रहा है। हरेक झूठ का, हरेक असत्यचरण (पाप) का फल मनुष्य को जीवन-रस से वंचित करना और उसे नष्ट करना हो रहा है । इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। वास्तव में ही हरेक झूठ बोलना मरना है, हरेक पाप करना आत्मघात करना है ।

शब्दार्थ—

(सोमः) सोम रूप परमेश्वर (वै) निस्सन्देह (न उ) न तो (वृजिनं) वर्जनीय पाप को (हिनोति) बढ़ाता है, समर्थन करता है और (न) न ही (मिथुया धारयन्तम्) दुहरी बात को—झूठ को—धारण करनेवाले (क्षत्रियं) बलवान् को ही बढ़ाता है, किन्तु वह तो (रक्षः) पाप-राक्षस का (हन्ति) हनन करता है और (असद् वदन्तं) असत्य बोलनेवाले का (हन्ति) हनन करता है, ये (उभौ) दोनों ही (इन्द्रस्य) इस इन्द्र रूप परमेश्वर के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) पड़ते हैं ।

* *
*

२१ ज्येष्ठ

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात् ।
स मातु र्योना परिवीतो अन्तः, बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥

ऋ० १.१६४.३२॥ अथर्व० ९.१०.१०॥

विनय

मनुष्य संसार-सागर में डूबता जाता है । मनुष्य ज्यों ज्यों 'बहुप्रजा' होता जाता है त्यों त्यों यह 'निर्ऋति' में—घोर कष्ट में—पड़ता जाता है । विषयग्रस्त हुवा मनुष्य इस संसार में अपने बच्चे पैदा करना यही कार्य समझता है, एवं प्रकृति में अपने विस्तार को नाना तरह बढ़ाता जाता है । इसीलिये वह बार बार जन्म पाता है, बार बार जन्म के घोर कष्टों को अनुभव करता है । ऋषि लोगों ने देखा है कि माता की योनि में आये हुवे जीव को बार बार बड़ा भारी मानसिक क्लेश भोगना पड़ता है । उस समय वह जीव केवल झिल्ली से ढका हुवा नहीं होता, किन्तु घोर अज्ञान से भी ढका हुवा होता है । क्योंकि 'बहुप्रजाः' के मार्ग पर जाना अज्ञान

से ढके जाने से ही होता है। मनुष्य 'ढका हुवा' (परिवीत) होने से ही इस संसार में पागल तथा अंधे की तरह रहता है । मनुष्य पागल इसलिये है, चूँकि वह जो दिन रात अन्धाधुन्ध काम करता है उसे वह जानता नहीं, यूँ ही करता जाता है । मनुष्य जो खाना पीना, चलना फिरना, प्रेम करना, द्वेष करना आदि जो कुछ करता है उसे वह कुछ भी नहीं जानता कि मैं यह क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ इसका क्या प्रभाव होगा। वह नहीं जानता कि इसका ही फल उसे भोगना होगा । वह नहीं जान पाता कि पहिले जन्मों में वह न जाने क्या क्या कर चुका है । अन्धाधुन्ध वह करता जाता है । इसी तरह का उसका सब संसार को देखना है। संसार में वह मनुष्य स्त्री, पशु, पहाड़, नदी, आकाश, सभा, समाज, बड़े बड़े आनन्ददायक दृश्य और बड़े बड़े रुलानेवाले दृश्य, इन सब को सोते जागते देखता जाता है, पर असल में वह इन किन्हीं भी वस्तुओं को नहीं देखता। ये सब वस्तुयें उससे वास्तव में छिपी ही रहतीं हैं, निःसन्देह छिपी ही रहती हैं। वह देखता हुवा भी किसी भी वस्तु का तत्व नहीं देख पाता। इसी लिये वह 'बहुप्रजाः' होने के—प्रकृति में ग्रस्त होने के—मार्ग को अवलम्बन करता है और 'निर्ऋति' में पड़ता जाता है। निर्ऋति[१] (पृथिवी) के इस अन्धकार में धँसते जाने की जगह, मनुष्य 'द्यौः' के प्रकाश की तरफ़ जाने

१—निर्ऋतिः = (१) घोर कष्ट. (२) पृथिवी। ये दोनों अर्थ निर्ऋति शब्द के होते हैं ।

लगे, यदि वह इस संसार में जो कुछ करे उसे जानने लगे और जो कुछ देखे उसे साक्षात् करने लगे।

क्या हम इस संसार के प्रवाह में बहते हुवे यूँ ही कुछ न कुछ करते जायँगे, कर्मरहस्य और कर्मफल के नियमों को बिना कुछ जाने यूँ ही, कुछ न कुछ करते जायँगे? और क्या हम इस सब संसार को देखते हुवे भी न देखेंगे, आँखें खोले हुवे भी अंधे बने रहेंगे? तब तो हम इस संसार में 'बहुप्रजाः' ही बनेंगे और हमारे भाग्य में घोर कष्ट ही रहेगा।

शब्दार्थ—

(यः) यह मनुष्य (ईं) यह जो कुछ (चकार) करता है (अस्य) इस किये को (स न वेद) वह नहीं जानता है। (यः) वह मनुष्य (ईं ददर्श) यह जो कुछ देखता है वह (तस्मात्) उस देखने वाले मनुष्य से (नु हिरुक् इत्) निःसन्देह छिपा हुवा ही है। (स) ऐसा वह मनुष्य (मातुःयोना अन्तः) माता के गर्भाशय में (परिवीतः) [झिल्ली से और अज्ञान से] ढका हुवा (बहुप्रजाः) बार बार जन्म लेता हुवा और बच्चे पैदा करता हुवा (निर्ऋतिं आविवेश) बड़े घोर कष्ट में प्रविष्ट होता जाता है।

*

* *

से ढके जाने से ही होता है। मनुष्य 'ढका हुवा' (परिवीत) होने से ही इस संसार में पागल तथा अंधे की तरह रहता है। मनुष्य पागल इसलिये है, चूँकि वह जो दिन रात अन्धाधुन्ध काम करता है उसे वह जानता नहीं, यूँ ही करता जाता है। मनुष्य जो खाना पीना, चलना फिरना, प्रेम करना, द्वेष करना आदि जो कुछ करता है उसे वह कुछ भी नहीं जानता कि मैं यह क्या कर रहा हूँ, क्यों कर रहा हूँ इसका क्या प्रभाव होगा। वह नहीं जानता कि इसका ही फल उसे भोगना होगा। वह नहीं जान पाता कि पहिले जन्मों में वह न जाने क्या क्या कर चुका है। अन्धाधुन्ध वह करता जाता है। इसी तरह का उसका सब संसार को देखना है। संसार में वह मनुष्य स्त्री, पशु, पहाड़, नदी, आकाश, सभा, समाज, बड़े बड़े आनन्ददायक दृश्य और बड़े बड़े रुलानेवाले दृश्य, इन सब को सोते जागते देखता जाता है, पर असल में वह इन किन्हीं भी वस्तुओं को नहीं देखता। ये सब वस्तुयें उससे वास्तव में छिपी ही रहतीं हैं, निःसन्देह छिपी ही रहती हैं। वह देखता हुवा भी किसी भी वस्तु का तत्व नहीं देख पाता। इसी लिये वह 'बहुप्रजाः' होने के—प्रकृति में ग्रस्त होने के—मार्ग को अवलम्बन करता है और 'निर्ऋति' में पड़ता जाता है। निर्ऋति[१] (पृथिवी) के इस अन्धकार में धँसते जाने की जगह, मनुष्य 'द्यौः' के प्रकाश की तरफ़ जाने

१—निर्ऋतिः = (१) घोर कष्ट. (२) पृथिवी। ये दोनों अर्थ निर्ऋति शब्द के होते हैं।

लगे, यदि वह इस संसार में जो कुछ करे उसे जानने लगे और जो कुछ देखे उसे साक्षात् करने लगे।

क्या हम इस संसार के प्रवाह में बहते हुवे यूँ ही कुछ न कुछ करते जायँगे, कर्मरहस्य और कर्मफल के नियमों को बिना कुछ जाने यूँ ही, कुछ न कुछ करते जायँगे? और क्या हम इस सब संसार को देखते हुवे भी न देखेंगे, आँखें खोले हुवे भी अंधे बने रहेंगे? तब तो हम इस संसार में 'बहुप्रजा:' ही बनेंगे और हमारे भाग्य में घोर कष्ट ही रहेगा।

शब्दार्थ—

(य:) यह मनुष्य **(ईं)** यह जो कुछ **(चकार)** करता है **(अस्य)** इस किये को **(स न वेद)** वह नहीं जानता है। **(य:)** वह मनुष्य **(ईं ददर्श)** यह जो कुछ देखता है वह **(तस्मात्)** उस देखने वाले मनुष्य से **(नु हिरुक् इत्)** नि:सन्देह छिपा हुवा ही है। **(स)** ऐसा वह मनुष्य **(मातु:योना अन्त:)** माता के गर्भाशय में **(परिवीत:)** [झिल्ली से और अज्ञान से] ढका हुवा **(बहुप्रजा:)** बार बार जन्म लेता हुवा और बच्चे पैदा करता हुवा **(निर्ऋतिं आविवेश)** बड़े घोर कष्ट में प्रविष्ट होता जाता है।

*

* *

२२ ज्येष्ठ

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्, अवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तव, अनागसो अदितये स्याम॥
ऋ० १. २४.१५॥यजु० १२.१२॥साम०पू०६.३.१०.४॥अ०७.८३.३॥

विनय

हे पापनिवारक देव! तूने हमें तीन बन्धनों से बाँध रखा है। उत्तम बन्धन हमारे सिर में हैं जिससे हमारा आनन्द और बुद्धि बँधे हुवे हैं, ढके हुवे हैं, रुके हुवे हैं। यह सत्वगुण का (कारणशरीर का) बन्धन कहा जा सकता है। हृदयस्थ मध्यम बन्धन से हमारा मन और सूक्ष्म प्राण बँधे हुवे हैं। यह रज और सूक्ष्म शरीर का बन्धन है। नाभि से नीचे तमोगुण और स्थूल शरीर का अधम बन्धन है जिससे हमारा स्थूल प्राण और स्थूल शरीर बँधा हुवा है। हे वरुण! इनसे बँधे रहने के कारण हम से तेरे नियमों का भंग होता रहता है और हम पापी बनते रहते हैं। उत्तम बन्धन द्वारा, सच्चा ज्ञान न मिलने से; मध्यम द्वारा राग-द्वेष काम-क्रोध आदि के वशीभूत होने से; और अधम द्वारा, शारीरिकतया त्रुटियुक्त कार्य करने से हम पापी बनते हैं। हे देव! तू हमारा उत्तम पाश ऊपर की तरफ़ खोल दे जिससे कि मेरी बुद्धि का द्युलोक के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाय और मुझमें सत्य-ज्ञान का प्रवेश होने लगे। मध्यमपाश को बीच से खोल दे जिससे अन्तरिक्ष लोक के समुद्र में मेरे मन के प्रविष्ट हो जाने से इसके रागद्वेषादि मल धुल जायँ तथा

मेरा मन सम हो जाय। और अधम पाश को नीचे गिरा दे जिससे मेरे पार्थिव शरीर के सब कलुषित परमाणु पृथ्वीतत्व में लीन हो जायँ और हमारा शरीर नीरोग, स्वस्थ होकर प्रभु के कार्य निर्दोष होकर कर सके। हे प्रकाशमय बन्धनरहित देव ! इन बन्धनों के टूट जाने पर हम तेरे व्रत में रह सकेंगे, हमसे तेरे नियमों का भंग होना बन्द हो जायगा। तब हम स्वतन्त्र होकर या आत्मतन्त्र होकर विचरेंगे। अन्त में मैं 'अदिति' (मुक्ति) के ऐसा योग्य हो जाऊँगा कि एक दिन आवेगा जब कि मेरा आत्मा स्थूलशरीर रूपी बन्धन को नीचे पृथ्वी पर छोड़कर और मानसिक सूक्ष्मशरीर को अन्तरिक्ष में लीन करके अपने ऊपरी बन्धन के भी टूट जाने से ऊपर—द्युलोक—को प्राप्त हो जायगा। बिना इन तीन बन्धनों के ढीले हुवे मैं मुक्ति की तरफ कैसे जा सकता हूँ ? इसलिये, हे वरुण ! इन बन्धनों को एक बार खोल दो—ज़रा ढीला कर दो—जिससे कि मेरा मार्ग साफ़ हो जाय और मैं यत्न करता हुवा तेरे व्रत में रहनेवाला निष्पाप मोक्षाधिकारी हो जाऊँ।

शब्दार्थ

(वरुण) हे पापनिवारक देव ! तू (अस्मद्) हमारे (उत्तमं पाशं उत्) उत्तम बन्धन को ऊपर की तरफ़ और (मध्यमं वि) मध्यम बन्धन को बीच में तथा (अधमं अव) अधम बन्धन को नीचे की तरफ़ (श्रथाय) ढीला कर दे (अथ) जिससे—इन बन्धनों के टूटने से (आदित्य) हे प्रकाशमय बन्धन रहित देव ! (वयं तव व्रते) हम तेरे नियमों में रहते हुवे (अनागसः) पापरहित होकर (अदितये) बन्धन-राहित्य, स्वतन्त्रता, मुक्ति, के लिये योग्य (स्याम) हो जायँ।

२३ ज्येष्ठ

अनुत्तमा ते मघवन्न कि र्नु, न त्वावाँ अस्ति देवता विदानः।
न जायमानो नशते न जातो, यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध ॥

ऋ० १.१६५.९॥

विनय

हे सर्वैश्वर्यशालिन्! मैं आज देख रहा हूँ कि इस विश्व का सब कुछ—छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा—तेरे हिलाये हिला रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो कि तेरी प्रेरणा से प्रेरित नहीं हो रही है। इस ब्रह्माण्ड-सागर की क्षुद्र से क्षुद्र और महान् से महान् सब लहरें तू ही पैदा कर रहा है। जगत् के अनन्तों परमाणुओं में का जो एक एक परमाणु प्रतिक्षण गतिशील है, कीड़ी से कुंजर तक जो सब प्राणी चेष्टा कर रहे हैं, मनुष्य के वैयक्तिक-जीवन और मनुष्य-संघ के समष्टि-जीवन में जो नित्य छोटे बड़े परिवर्तन हो रहे हैं, भूकम्प, वर्षा, वायु, अग्नि, ऋतु आदि रूप से जो आधिदैविक जगत् निरन्तर बदल रहा है—यह एक जगत् क्या, ऐसे ऐसे जो कोटि कोटि अनन्त जगत्, जो असंख्यात सूर्य और पृथिवियाँ, इस महाकाश में चक्कर लगा रहे हैं—ये सब के सब, तेरी ही दी हुई गति से, तेरी ही प्रेरणा से चल रहे हैं। तू अपनी पूर्ण ज्ञानमयी ठीक ठीक गति देकर इस सब संसार को नचा रहा है। हम मनुष्य क्या, बड़े से बड़े ज्ञानी देव भी तेरे असीम ज्ञान का

पार नहीं पा सकते हैं। ये सब तेरे ज्ञान को असीम, अनन्त कह कह कर अपनी अज्ञानता को ही प्रकाशित करते हैं। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों पता लगता जाता है कि तू कितना कितना महान् है ! हे महान् ! हे परममहान् !! तेरी महत्ता के आकाश का भी अन्त हमारा कल्पना-पक्षी अपनी ऊँची से ऊँची उड़ान से नहीं पा सकता; वह हार मान कर, थक थक कर, शान्त हो जाता है। तब हम तेरी महत्ता को अनन्त मानकर और तेरी लीला को अगम्य कह कर चुप हो जाते हैं। इतना ही कह सकते हैं कि इस जगत् में जो कुछ पैदा हुवा है, हो रहा है या होगा, उनमें से किसी में भी ऐसी शक्ति नहीं है जो तेरी लीला को समझ सके, जो तेरे द्वारा की जानेवाली या की जा रही लीला के किसी ओर-छोर को पा सके। जो तेरी लीला की अधिक से अधिक सच्ची, नज़दीकी और पूरी ख़बर लाता है तो वह यही ख़बर लाता है कि तेरी लीला अगम्य है, तेरी लीला अगम्य है।

शब्दार्थ—

(आ) ओह, सच है कि (मघवन्) हे सर्वैश्वर्ययुक्त ! (नु ते अनुत्तम्[1] न किः) निस्सन्देह ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो कि तुझसे अप्रेरित है—जो कि तुझसे प्रेरित नहीं है, (त्वावान् विदानः देवता न अस्ति) तेरे समान ज्ञानवाला कोई देवता भी नहीं है, (प्रवृद्ध) हे परम महान्! (न जायमानः न जातः) न तो कोई उत्पन्न होनेवाली और न कोई उत्पन्न हुई हुई वस्तु है ([तानि] नशते) जो तेरे उन कर्मों तक पहुँचती है (यानि करिष्या, कृणुहि) जिन कर्मों को तू करेगा या कर रहा है।

१—अनुत्तम्+आ=अनुत्तमा ॥

२४ ज्येष्ठ

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो, यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव, यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः॥
ऋ० २.१२.९॥ अथर्व० २०.३४.९॥

विनय

'ईश्वर' 'ईश्वर' नाम लोग लिया करते हैं, परन्तु, हे मनुष्यो ! क्या तुम उसे अनुभव करते हो ? बेशक, वह इन्द्रियों से परे होने के कारण आँख आदि से ग्रहण नहीं किया जा सकता, तो भी हरेक मनुष्य उसे अनुभव कर सकता है। इस संसार में जो कुछ मनुष्य को विजय मिलती है वह सब उसी से मिलती है। उसकी अनुकूलता के बिना बड़े से बड़े बली अभिमानी को विजय नहीं मिल सकती। सब विजय उसी की है। अतः जहाँ हरेक विजय में हम उसकी महत्ता को अनुभव करें, वहाँ अपनी हरेक हार में भी उसकी महत्ता को देखें जिसकी कि स्वीकृति न होने के कारण ही हमें हरेक हार मिलती है। इस युद्धमय संसार में मनुष्य जब अपनी सब प्रकार की शक्ति से निराश

हो जाता है और हारता हुवा अपने को बिल्कुल बेवस जान कर जिस एक अज्ञात और अपने से ऊँची शक्ति को पुकारने लगता है वही शक्ति परमेश्वर है। नास्तिक पुरुष के हृदय में भी उस चरम निःसहायता की अवस्था में किसी अन्य शक्ति से सहायता पाने की छिपी हुई आशा प्रकट हो जाती है। उस शक्ति को क्यों नहीं देखते? अपनी इस चरम निस्सहाय दशा में हार कर, बेवस होकर उस परमेश्वर शक्ति को अनुभव करो जिसके बिना संसार में कोई भी विजय नहीं मिलती। देखो, यह वो है जिसे कि रक्षा पाने के लिये युद्धों में सब मनुष्य पुकार रहे हैं। और यदि चाहो तो संसार की एक एक वस्तु में उसे अनुभव करो। यह सब विश्व उसी को दिखा रहा है। यह संसार और किसमें रखा हुवा है? इस विश्व को किसने धारा हुवा है? यह ही वो है जो कि इस सब संसार का आधार, सार और आत्मा है और ऐसा होकर भी जो संसार की हरेक वस्तु में ऐसा तद्रूप (ऐसा तत्प्रतिम) हो बैठा है कि मनुष्य संसार की वस्तुओं को देखते हैं पर उसे नहीं देखते। पर यह न दीखनेवाली ही सब कुछ है। इस संसार में जो असंभव संभव हो रहे हैं, जिनके कभी मिटने की संभावना नहीं होती वे क्षण भर में मिट जाते हैं। ये सब काम वही न दीखनेवाला कर रहा है। जिन्हें यह दुनिया अडिग समझती है वह उन्हें भी चुपके से गिरा देता है। उस 'अच्युतच्युत्' को देखो। संसार की एक एक चीज़ में रमे हुवे उसे देखो। वह विश्वमय होकर हमारे सामने खड़ा है; उसे

क्यों नहीं देखते ? हे मनुष्यो ! उसे देखो, वही इन्द्र है, वही परमेश्वर है ।

शब्दार्थ—

(जनासः) हे मनुष्यो ! (इन्द्रः स) परमेश्वर वह वस्तु है (यस्मात् ऋते जनासः न विजयन्ते) जिसके बिना मनुष्यों को कभी विजय नहीं मिलती और (यं युध्यमानाः अवसे हवन्ते) जिसको कि युद्ध करते हुवे सब मनुष्य रक्षा के लिये पुकारते हैं तथा (यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव) जो विश्व का प्रतिमान अर्थात् उसके प्रत्येक पदार्थ का निर्माता होकर, सब विश्व को अपने में रखकर, तद्रूप हुवा हुवा है (यः अच्युतच्युत्) और जो न डिगने वाले बड़े दृढ़ पदार्थों को भी डिगा देता है ।

*

* *

२५ ज्येष्ठ

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरं, उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति, श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥

ऋ० २.१२.५॥ अथर्व० २०.३४.५ ॥

विनय

मनुष्य जब गंभीरतापूर्वक उस परमेश्वर की सत्ता पर विचार करने लगते हैं तो उन में से कोई पूछते हैं 'वह ईश्वर कहाँ है' जिसने इस बड़े भोगदायक संसार में दुःख, दर्द, मृत्यु आदि पैदा करके लोगों का रसभंग कर रखा है, जो कि बड़ा दुष्टों का दलन करनेवाला तथा अपने वज्र से पापों का संहार करनेवाला कहा जाता है उस घोर भयङ्कर ईश्वर के विषय में वे पूछते हैं कि 'वह कहाँ है ?' 'हमें बताओ वह कहाँ है ?' दूसरे कुछ भाई निश्चय ही कर लेते हैं कि "ईश्वर फीश्वर कोई नहीं है।" "ईश्वर तो अब २०वीं शताब्दी में मर गया है"—"ईश्वर केवल अज्ञानियों के लिये है।" परन्तु, हे मनुष्यो ! ज़रा सावधानी से देखो। सत्य को खोजो और इसे धारण करो। देखो कि वे पुरुष जो अपनी समझ में

प्रकृतिमय ईश्वरविहीन संसार में रहते हैं, अतः जो इस जगत् में जिस किसी तरह सुखभोग करना ही अपना ध्येय समझते हैं और स्वभावतः विपरीतगामी होकर धर्म दया आदि के सत्य-मार्ग को तिरस्कृत कर निरन्तर अपनी पुष्टि की ही धुन में लगे रहते हैं अर्थात् धनसंग्रह, स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, प्रभाव आदि से अपने को समृद्ध और पुष्ट करते जाते हैं, उन 'अरि' नामक स्वार्थी लोगों के सामने भी एक समय आता है जब कि उनका यह सांसारिक-भोग का खड़ा किया हुवा सब महल एकदम न जाने कैसे गिर पड़ता है। उनके जीवन में एक भूकम्प सा आता है, उन्हें एक ज़ोर का धक्का लगता है। उनकी वह सब भौतिक-पुष्टि क्षण में मिट्टी हो जाती है, सब ठाठ गिर पड़ता है। उस समय बहुत बार उनका अभिमान नष्ट होता है और वे नम्र होते हैं। कल्याणकारी है वह धक्का, कल्याण-कारी है उनका वह सर्वनाश, यदि वह उन्हें नम्र बनाता है, और धन्य हैं वे पुरुष जिन्हें यह कल्याणकारी धक्का लगता है। क्योंकि वहीं पर प्रभु के दर्शन हो जाया करते हैं। हे मनुष्यो ! वह ईश्वर आँख से दीखने की वस्तु नहीं है, उसे तो श्रद्धा की आँख से देखो। जो मनुष्यों की बड़ी बड़ी योज-नाओं को पल मारते में बदल देता है, कुछ का कुछ कर देता है; जिसके आगे अल्पमनुष्य का कुछ बस नहीं चलता, ज़रा उसे देखो, नम्र होकर उसे देखो; वही परमेश्वर है। इस संसार के सब बड़े से बड़े भोगदायक ऐश्वर्य उसी के हैं जिन्हें कि हम भोगते हैं। उस परमैश्वर्यवाले इन्द्र को श्रद्धा से देखो, उस नम्रता की अवस्था में अपने हृदय की सत्यधारिणी शक्ति (श्रद्धा) से उसे देखो। हमारे पापों को सुधारने

वाला वही है; हमारी विनाशकारिणी, अस्वस्थ्यकरी पुष्टि[1] को गिरा देनेवाला वही है। इस तरह कल्याण करनेवाला वही है। उस पर श्रद्धा करो, मनुष्यो! उस पर श्रद्धा करो।

शब्दार्थ—

(यं) जिस (घोरं) अद्भुत भयङ्कर वस्तु के विषय में (पृच्छन्ति स्म) लोग प्रश्न किया करते हैं कि (कुह स इति) "वह कहाँ है" (उत ईं एनं) और जिस इसके विषय में (आहुः) बहुत से कहा करते हैं कि (न एष अस्ति इति) "वह है ही नहीं" (स) वही (अर्यः) अरि के, विपरीतगामी स्वार्थी पुरुष के (पुष्टीः) सब सांसारिक-समृद्धि, पुष्टि को (विज इव) भूकम्प की तरह (आमिनाति) विनष्ट कर देता है (जनासः) हे मनुष्यो! (अस्मै श्रत् धत्त) इस परमेश्वर पर श्रद्धा करो (स इन्द्रः) वही परमैश्वर्यवान् परमेश्वर है।

* *
*

1. Unhealthy Development.

२६ ज्येष्ठ

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः, अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

ऋ० १.१६४.४६.॥ अथर्व० ९.१०.२८॥

विनय

हे मनुष्यो ! इस संसार में एक ही परमात्मा है । हम सब मनुष्यों का एक ही प्रभु है । हम चाहे किसी संप्रदाय, किसी पन्थ, किसी मत के मानने वाले हों पर संसार भर के हम सब मनुष्यों का एक ही ईश्वर है। भिन्न भिन्न देशों भिन्न भिन्न संप्रदायवाले उसे भिन्न भिन्न नाम से पुकारते हैं, पर वह तो एक ही है। जो जिस देश में व जिस संप्रदाय के वायुमंडल में रहा है, वह वहाँ के प्रचलित प्रभु-नाम से उसे पुकारता है। कोई 'राम' कहता है, कोई 'शिव' कहता है, कोई 'अल्लाह' कहता है, कोई 'लार्ड' कहता है। 'विप्रों' ने—ज्ञानी पुरुषों ने—उस प्रभु को जिस रूप में देखा, उसके जिस गुणोत्कर्ष का उन्हें अनुभव हुवा, अपनी भाषा में उसी के वाचक शब्द से उसे वे पुकारने लगे। उन विप्रों द्वारा वही नाम उस समाज व संप्रदाय में फैल गया। कोई विप्र गुरु से ग्रहण करके उसे 'ओं' या 'नारायण' नाम से पुकारता है, तो कोई अपने महात्माओं और सद्ग्रन्थों से पाकर उसे 'खुदा' या 'रहीम' कहता है, परन्तु वह प्रभु एक ही है।

हम सांप्रदायिक लोगों ने संसार में बड़े बड़े उपद्रव किये हैं और आश्चर्य यह कि ये सब लड़ाई दंगे अपने प्रभु के नाम पर! वैष्णवों और शैवों के झगड़े हुवे हैं, हिन्दू और मुसलमानों में

रक्तपात हुवे हैं, यहूदियों और ईसाइयों के युद्ध हुवे हैं। यह सब क्यों ? यह सब तभी होता है जब हम यह भूल जाते हैं कि "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति"। वह एक ही है, पर ज्ञानी लोगों ने अपने अपने अनुभवों के अनुसार उसे भिन्न भिन्न नाम दिया है। ईश्वर होने से वही 'इन्द्र' है, मृत्यु से त्राता होने से वही 'मित्र' है, पापनिवारक होने से वही 'वरुण' है, प्रकाशक होने से वही 'अग्नि' है। वेदमंत्रों में इन नाना नामों से पुकारा जाता हुवा भी वह एक है। इसी तरह वेदमंत्रों ने 'दिव्य,' 'सुपर्ण' (शोभन पतनवाला), या 'गरुत्मान्' (गुरु आत्मा)', 'अग्नि' 'यम (नियन्ता)', और 'मातरिश्वा (अन्तरिक्ष में श्वसन करनेवाला)' आदि भिन्न भिन्न अनेक देव-नामों से उसी एक प्रभु की स्तुति की है। गिरजे में उपासना (Prayer) करनेवाला सच्चा ईसाई या मस्जिद में भक्तिभाव से उठता बैठता हुआ मुसलमान जिस प्रभु की उपासना करता है, वह वही एक प्रभु है जिसके कि भजन समाज-मन्दिर में एक आर्यसमाजी गाता है। जो सच्चा (ज्ञानी) हिन्दू और सच्चा (ज्ञानी) मुसलमान नहीं है वही हिन्दू या मुसलमानों के 'सविता' या 'खुदा' को जुदा जुदा समझता है। ज्ञानियों ने उस एक को ही भिन्न भिन्न नामों से पुकारा, पर अज्ञानियों ने उसे भिन्न भिन्न नामों से जुदा जुदा समझ लिया और जुदा जुदा कर दिया। अतः वेद की पुकार सुनो 'वह एक है' "वह एक है'। एकं सत्।

शब्दार्थ—

(विप्राः) ज्ञानी पुरुष (एकं सत्) एक ही होते हुवे को (बहुधा वदन्ति) अनेक प्रकार से बोलते हैं। उस एक ही को (इन्द्रं, मित्रं, वरुणं, अग्निं आहुः) इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि कहते हैं (अथो स दिव्यः सुपर्णः गरुत्मान्) और वही दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् कहलाता है (अग्निं, यमं मातरिश्वानं आहुः) उस एक ही को अग्नि, यम और मातरिश्वा कहते हैं।

२७ ज्येष्ठ

यो जागार तमृचः कामयन्ते, यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह, तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

ऋ० ५.४४.१४॥ सा० उ० ९.२.५॥

विनय

संसार में परिपूर्ण जागृत तो एक ही है; वह अग्नि परमात्मा है। यह सर्वथा अनिद्र है, त्रिकाल में जागृत है। उसमें तमोगुण का (अज्ञान व आलस्य का) स्पर्श तक नहीं है। अतएव सब ऋचायें, संसार की सब स्तुतियाँ, उसी को चाह रही हैं—उसी के प्रति हो रही हैं। सब सामों का, मनुष्यों के किये सब यशोगानों का, सब स्तुति-गीतियों का भाजन भी वही एक परम-जागृत देव हो रहा है। और देखो, यह समस्त भोग्य-संसार—भोग्य बना हुवा यह सोमरूप ब्रह्माण्ड—उसी जागरूक अग्निदेव के पैरों में पड़ा हुवा कह रहा है "मैं तेरा हूँ, तेरे ही आश्रय से मेरी सत्ता है, तेरी मित्रता में मेरा निवास हो रहा है; तुझसे हटकर मुझे और कहीं ठौर नहीं है।"

इसी तरह हम मनुष्य-जीव भी यदि अपनी शक्तिभर सदा जागृत रहेंगे, सदा सावधान और कटिबद्ध रहेंगे, तमोगुण को दूर हटाकर सदा चैतन्ययुक्त, अतन्द्र रहेंगे, आलस्य के कभी भी वशीभूत न होकर अपने कर्तव्य को तत्क्षण करने के लिये सदा तैयार, उद्यत रहेंगे, कभी प्रमाद न करते हुवे—बिना भूलचूक के—अपने कर्तव्य को ठीक ठीक करते जाने के अभ्यासी हो जायँगे; तो हम भी उतने ही अंश में 'अग्नि' रूप हो

जायँगे और तब जागनेवाले हम भी उसी अंश में सब लोगों के स्तुत्य और प्रजाओं के यशोगान के अधिकारी भी हो जायँगे तथा अग्नि और सोम का भोक्ता और भोग्य का सम्बन्ध होने के कारण उतने ही अंश में संसार के सब भोग्य-पदार्थ हमारे सामने हाथ जोड़कर खड़े हो जायँगे और कहेंगे कि "हम तुम्हारे हैं।"

परन्तु वास्तविक भोक्ता होना आसान नहीं। संसार के विषयी पुरुष तो भोगों के भोक्ता होने की जगह भोगों के भोग्य बने हुवे हैं। परन्तु वही ऐश्वर्य, वही सुख, वही सुख-भोग— जिसके कि पीछे यह सब संसार दौड़ता फिरता है पर जो लोगों को मिलता नहीं, वही ऐश्वर्य (सोम)—जागृत पुरुष के सामने हाथ बाँधकर, सेवक होकर, शरण पाने के लिये आ खड़ा होता है। अग्नित्व को प्राप्त उस मनुष्य के लिये वास्तव में संसार के सब भोग्य-पदार्थ उसकी मित्रता में, उसके हितसाधन के निमित्त, सदा नियत स्थान पर उपस्थित रहते हैं; उसे उन पर ऐसा प्रभुत्व प्राप्त हो जाता है। अतः, हे मनुष्यो! जागो, जागो, सदा जागृत रहो; तामसिकता त्यागो और निरालस्य-जीवन का अभ्यास करो। जागरूकों के लिये ही यह संसार है; स्तुत्यता, लोकमान्यता, यश, भोक्तृत्व यह सब जागते रहनेवालों के ही लिये है।

शब्दार्थ—

(यः जागार) जो जागता है (तं) उसे (ऋचः) ऋचायें, स्तुतियाँ (कामयन्ते) चाहती हैं, (यः जागार) जो जागता है (तं उ) उसे ही (सामानि) साम, स्तुतिगान (यन्ति) प्राप्त होते हैं और (यः जागार) जो जागता है (तं) उसे, उसके सामने आकर (अयं) यह (सोमः) सोम, भोग्य-संसार (आह) कहता है कि "(तव अहं अस्मि) मैं तेरा हूँ (सख्ये न्योकाः) तेरी मित्रता में ही मेरा निवास है, तेरे सख्य के लिये मैं सदा नियत स्थान पर उपस्थित हूँ।"

२८ ज्येष्ठ

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुः, यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं, न स्तां कृणवद् विश्वकर्मा॥

अथर्व० २.३५.१॥

विनय

इस संसार में भोगों को भोगते हुवे हम मनुष्यों का साथ ही यह भी कर्तव्य हो जाता है कि हम भोग से क्षीण हो जाने वाले ऐश्वर्य को अपने उत्पादक कर्म द्वारा सदा संसार में वढ़ाते भी जायँ। हरेक अन्न खानेवाले का कर्तव्य है कि वह अन्न को उत्पन्न करने में कुछ न कुछ सहायता भी देवे। यही यज्ञ-कर्म है। जो लोग यह यज्ञ-कर्म नहीं करते उन्हें परमात्मा की अग्नियाँ जलाने लगती हैं; उन्हें दुःख से संतप्त होना पड़ता है। परमात्मा की वे जगत् में स्थापित अग्नियाँ जो कि हम मनुष्यों के लिये भोग्य-ऐश्वर्यों को उत्पन्न कर रही हैं, उन्हें यदि हम भोग भोगने के बाद अपने यज्ञ-कर्म द्वारा अगले भोगों के उत्पन्न करने के लिये सहायता न देंगे—उस दिशा में उद्दीप्त न करेंगे; तो वे अग्नियाँ हमें संतप्त करने लगेंगी। यही संसार में दुःखों के अस्तित्व का रहस्य है। भोग के साथ यज्ञ जुड़ा हुवा है। मनुष्य-समाज इसी तरह चल रहा है। मनुष्य परस्पर मिलकर अपने परिश्रमों से भोग्य-वस्तुओं को बढ़ा रहे हैं, और फिर उन्हें भोग रहे हैं। परन्तु मनुष्य-समाज में जो मनुष्य स्वार्थी होकर भोग का सुख लेना चाहते हैं पर यज्ञ-कर्म (परिश्रम) नहीं करना चाहते, उनकी उस 'दुरिष्टि' द्वारा हमारे मनुष्य-

समाज रूपी यज्ञ में भंग होता है। उनकी इस दुष्प्रवृत्ति से उनका पतन होता है, उनका आत्मतेज दबता जाता है। इस उलटे चक्र को चलाने का यत्न करने के कारण उनको संसार का ताप, दुःख भी मिलता है पर उनकी इस वैयक्तिक हानि से हमारे मनुष्य-समाज की भी क्षति होती है, मनुष्य-समाज को उनका बोझ सहना पड़ता है। उनको कष्ट व अनुताप इसीलिये होता है, इसीलिये मिलता है कि वे यह समझ जायँ कि उन्हें मनुष्य-समाज रूपी यज्ञ का भंग न करना चाहिये। उन्हें अपनी केवल भोग भोगने की 'दुरिष्टि' को बदल कर यज्ञ-कर्म करने की 'स्विष्टि' में ले आना चाहिये। अहा! सब मनुष्य-समाज के व्यक्ति इस सत्य को समझें और सभी स्वेच्छा से यज्ञ-कर्म द्वारा जगत् के ऐश्वर्य को बढ़ाने में सहायक होवें, तो कैसा सुख होवे; किसी को अनुतप्त न होना पड़े, समाज की उन्नति होती जावे। हम तो इस सब जगत् के रचयिता विश्वकर्मा प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि वे ऐसे पुरुषों की 'दुरिष्टि' को 'स्विष्टि' में परिणत कर देवें, उन्हें दुष्ट यजन करनेवालों की जगह ठीक यज्ञ-कर्म करने वाला बना देवें।

शब्दार्थ—

मनुष्य-समाज में (ये) जो लोग (भक्षयन्तः) निरन्तर भोग करते हुवे भी (वसूनि न आनृधुः) उन भोग्य-ऐश्वर्यों को बढ़ाते नहीं हैं और अतएव (यान्) जिन लोगों को (धिष्ण्याः अग्नयः) [परमात्मा द्वारा] जगत् में स्थापित प्राणादि अग्नियाँ (अनु अतप्यन्त) भोग के अनन्तर संताप देती हैं, जलाती हैं (तेषां) उन लोगों की (या अवया दुरिष्टिः) जो नीचे गिरानेवाली यह दुष्प्रवृत्ति या दुष्ट-यजन है (तां) उसे (नः) हमारे लिये (विश्वकर्मा) विश्वकर्ता परमेश्वर (स्विष्टिं) सुप्रवृत्ति या ठीक यजन के रूप में (कृणवत्) कर देवें।

२६ ज्येष्ठ

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च, वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥

अथर्व० २.३५.५॥

विनय

मेरे जीवन-यज्ञ को भरण पोषण करनेवाली मेरी दर्शनशक्ति है। इससे नित्य नया सत्यज्ञान पाता हुवा मेरा मनुष्य-जीवन उन्नत उन्नत होता जा रहा है। इस यज्ञ का साधनभूत जो मेरा स्थूल-शरीर है, उसका भरण पोषण मुँह द्वारा अन्न-ग्रहण करने से हो रहा है। पर मेरा यह सब मानसिक-पोषण और यह सब शरीरिक-पोषण यज्ञ के लिये ही है। मैं उन्नत हुवे मन से, शरीर से, इन्द्रियों से जो कुछ करता हूँ वह सब हवन ही करता हूँ। वाणी से जो बोलता हूँ वह हवन ही करता हूँ, ऐसा कुछ नहीं बोलता जो कि प्रभु को साक्षी रख कर नहीं होता, जो कि अन्यों का हितकर नहीं होता। कानों से जो सुनता हूँ वह प्रभु-अर्पण-बुद्धि से सुनता हूँ, वह श्रेष्ठ पवित्र ही श्रवण करता हूँ जो कि फलतः सर्वभूतहित के लिये हो। इसी तरह मन के भी एक एक मनन, चिन्तन को, ऐसा पवित्र, निर्विकार, हवनरूप, करने का यत्न करता हूँ। मैं सदा स्मरण रखता हूँ कि यह मनुष्य-जीवन मुझे विश्वकर्मा प्रभु ने यज्ञरूप

करके दिया है । मुझे यह ध्यान रहता है कि यह जीवन-यज्ञ उस प्रभु का प्रारम्भ किया हुवा, चलाया हुवा है । जिस यज्ञ-स्वरूप ने यह सब विश्व-ब्रह्माण्ड रचा है उसी विश्वकर्मा ने अपने इस विश्व में मेरा यह छोटा सा जीवन-यज्ञ भी शतवर्ष तक चलने के लिये प्रारम्भ किया है । यही विचार है जो कि मुझे अपने एक एक कर्म को संयमपूर्ण, पवित्र, और त्यागमय बनाने को प्रेरित करता है । मैं सचिन्त और सावधान रहता हूँ कि कहीं यह विश्वकर्मा का विस्तृत किया हुवा पवित्र यज्ञ मेरे किसी कर्म से कभी भ्रष्ट न हो जावे । इसलिये, हे देवो ! प्रभु के संसार-यज्ञ को चलानेवाली दिव्य-शक्तियो ! तुम मेरे इस यज्ञ में भी प्रसन्नचित्त होकर आओ और इसे अधिक अधिक यज्ञिय, पवित्र बनाओ । तुम्हारा तो कार्य ही यज्ञ में आना है । अतः हे दिव्य गुणो ! तुम मुझमें आओ, प्रसन्नचित्त होकर आओ । मैं अपने जीवन को यज्ञ बनाता हुवा तुम्हें बुला रहा हूँ । अतः, हे यज्ञप्रिय दैवभावो ! तुम प्रसन्नतापूर्वक मुझमें वास करो । देवों के सब गुण, सब देवभाव, सब देवत्व मुझमें आ जावें, स्वभावतः मुझमें आ जावें, मुझमें बस जावें ।

शब्दार्थ—

(यज्ञस्य) मनुष्य-जीवन-यज्ञ के (प्रभृतिः) भरण पोषण का साधन (चक्षुः) दर्शनशक्ति है (मुखं च) और मुख भी है । (वाचा श्रोत्रेण मनसा) वाणी से, कान से, और मन से (जुहोमि) मैं हवन ही करता हूँ । (इमं यज्ञं) यह मेरा जीवन-यज्ञ (विश्वकर्मणा) जगत् रचयिता परमात्मा ने (विततं) विस्तृत किया है, इसमें (देवाः) सब देव, दिव्यभाव (सुमनस्यमानाः) प्रसन्न होते हुवे (आ यन्तु) आवें ।

३० ज्येष्ठ

इयं समित् पृथिवी द्यौ र्द्वितीया, उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकाँस्तपसा पिपर्त्ति ॥

अथर्व० ११.५.४॥

विनय

यह संसार ब्रह्मचर्य से ही पालित, पोषित, और पूरित हो रहा है। इस जगत् के आधार में यदि ब्रह्मचर्य का परमवीर्य न होता, तो यह जगत् कब का ख़तम, ख़ाली और छूछा हो चुका होता। अपने शारीरिक-वीर्य की, ब्रह्मतेज की और आत्मिक-वीर्य (आत्म-तेज) की रक्षा करनेवाले संयमी ब्रह्मचारी लोग ही हैं जो कि इस त्रिलोकी को निरन्तर जीवन-तेज से पूरित कर रहे हैं। ब्रह्मचारी अपने शरीर को, अपने मन को, अपनी आत्मा (विज्ञानमय) को तीन समिधायें बना कर बृहत् अग्नि (आचार्याग्नि या परमात्माग्नि) में रखता है, उसके अर्पण कर देता है। इसका फल यह होता है कि उसका

ये तीनों समिधायें प्रदीप्त हो जाती हैं—उसके शरीर में वीर्य का तेज आ जाता है, उसका मन ब्रह्म-तेज से समिद्ध हो जाता है, और उसका आत्मा आत्मतेज से सूर्यवत् जाज्वल्यमान, प्रकाशित हो जाता है। शरीर की समिधा से वह स्थूल पृथिवी लोक को तृप्त और परिपूर्ण करता है, मन की दीप्ति से अन्तरिक्ष-लोक को पूरित करता है, और आत्मप्रकाश से द्युलोक को। इस तरह से संसार का प्रत्येक सच्चा ब्रह्मचारी अपने इस संचित, रक्षित, त्रिविध तेज (समिधा) द्वारा इन तीनों लोकों को पालित कर रहा है। हम में से कौन है जिसे इन तेजों के रक्षण की आवश्यकता नहीं है? इन तेजों को गँवा कर हम कैसे जी सकते हैं? अतः आओ, हम सब मनुष्य आज से मेखला को धारण करके कटिबद्ध हो जायँ और अनवरत श्रम और तप करते हुवे यथाशक्ति अपने को इन तेजों से समिद्ध कर लेवें। ब्रह्मचारी जहाँ समिद्ध होने का (तीन समिधाओं का) व्रत लेता है, वहाँ वह मेखला, श्रम, और तप का भी व्रत ग्रहण करता है। मेखला का अर्थ है सदा कटिबद्ध मुस्तैद, तैयार, सावधान रहना; आलस्य, खाली रहने की इच्छा, शिथिलता, प्रमाद ब्रह्मचारी के घोर शत्रु हैं। इसी तरह खूब श्रम करना, शरीर और मन से खूब काम लेकर इन्हें थका देने पर ही विश्राम ग्रहण करना यह ब्रह्मचारी का धर्म है; आराम-पसन्द, कामचोर, मनुष्य के भाग्य में ब्रह्मचर्य का सुख नहीं है। तप करना, सब द्वंदों का सहना, गर्मी सर्दी, भूख प्यास, सुख दुःख आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहना यह ब्रह्मचारी का तीसरा परमावश्यक व्रत है। कटिबद्धता श्रम और तप के पालन द्वारा ही ब्रह्मचारी में त्रिविध तेज का (वीर्य का)

रक्षण और संचय होता है और इन्हीं तीन के लगातार अनुष्ठान द्वारा ही ब्रह्मचारी अपने इस तेज का उपयोग करता हुवा लोकों का (त्रिविध संसार का, संसार के लोगों का) पालन पोषण और पूरण करता है। इन्हीं में ब्रह्मचर्य की अपार महिमा का रहस्य है।

शब्दार्थ—

(इयं समित्) यह पहिली समिधा (पृथिवी) पार्थिव-जगत् की; (द्वितीया) दूसरी समिधा (द्यौः) द्युलोक की, आत्मिक-जगत् की, (उत) और वह (समिधा) अपनी तीसरी समिधा द्वारा (अन्तरिक्षं) मध्य के मनोमय अन्तरिक्ष लोक को (पृणाति) पूर्ण करता है। इस प्रकार (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से, त्रिविध दीप्ति से (मेखलया) मेखला से, कटिबद्धता से (श्रमेण) श्रम से और (तपसा) तप से (लोकान्) तीनों लोकों को, संसार के सब लोगों को (पिपर्ति) पालित, पोषित और पूरित करता है।

*

* *

३१ ज्येष्ठ

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

ऋ० १०.१२१.२॥ यजु० २५.१३॥ अथर्व० ४.२.१॥

विनय

आओ, हम अपना सर्वार्पण करके भी उस सुखस्वरूप देव की पूजा करें जो कि हमें हमारे आत्मस्वरूप का देनेवाला है। हम अपने आप (आत्म) को ही भूलकर भटक रहे हैं; वह हमें अपने इस आप को प्राप्त करा देता है। वही हमें बल भी देता है; अपने को खोकर आत्मशक्तिहीन हुवे हमें लोगों को वही अपनी करुणा से शक्ति भी प्रदान करता जाता है। और जब हम उस सब शक्ति के भंडार को कुछ अनुभव करने लगते हैं तो हम देखते हैं कि यह सब विश्व उसके आश्रित है, सब प्राणियों को सब कुछ देनेवाला वही है, सब प्राणी उसी के प्रकृष्ट-शासन में रह रहे हैं। जाने या अनजाने सब उसी का आश्रयग्रहण कर रहे हैं। उसके परिपूर्ण शासन को कोई

उल्लंघन नहीं कर सकता। उसके नियम अटल हैं। संसार में जो बड़ी से बड़ी शक्तियाँ (देव) काम करती दिखाई दे रही हैं, वे सब उसी की आज्ञापालन कर रही हैं। उसी की प्रेरणा से प्रेरित पृथ्वी, सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव अपने अपने महान् कार्य ठीक ठीक चला रहे हैं। ऋषि देखते हैं कि मृत्यु भी उसी के भय से उसकी आज्ञा में दौड़ता फिर रहा है। अहो! इस मौत से तो यह संपूर्ण ही संसार डरता है। सचमुच इस जगत् में जहाँ सुख भोग हैं, वहाँ इन्हें क्षणिक बनानेवाला दुःख संताप भी जगत् में है और कोई भी ऐसा जन्म पानेवाला नहीं है जो कि मृत्यु का ग्रास न होता हो। देखो, यह "राम की चक्की" संसार में ऐसी चल रही है कि उसमें सब पिसते जा रहे हैं, मरते जा रहे हैं। इस मृत्यु के विकराल कालचक्र को चलाने वाला इसका शासक भी वही है। सब संसार दुःख-पीड़ित, और मौत का मारा हुवा पड़ा है। हे मनुष्यो! यदि तुम उस की इस विकराल भयरूपिणी मृत्युदेवी से घबरा चुके हो तो यह भी आश्चर्य देखो कि जब मनुष्य उस प्रभु की शरण में आ जाता है तो यही मृत्यु अमृत बन जाती है! उस प्रभु की मंगलमय छाया में कोई संताप नहीं रहता, 'मृत्यु' भी मृत्यु नहीं रहती! आत्मस्वरूप को देकर वह हमें क्षण में अमर कर देता है। आओ, हम उस आत्मस्वरूप को देनेवाले की शरण में आकर अमर बन जायँ, उसी से बलकी याचना करें जिससे कि हम सदा उसकी छाया में ही सुख से रहने में कृत-कार्य हो जायँ। आओ, हम अपने सब कुछ की हवि चढ़ाकर अपने उस ऐसे सुखस्वरूप देव को प्राप्त करें, निरन्तर इस यज्ञ-मय भक्ति द्वारा उस प्रभु की परिचर्या करते रहें।

शब्दार्थ—

(यः आत्मदाः) जो आत्मस्वरूपको देनेवाला और (बलदाः) शक्ति को देनेवाला है। (यस्य विश्व उपासते) सब जिसकी उपासना करते हैं और (यस्य देवाः प्रशिषं [उपासते]) देव भी जिसके प्रशासन के आश्रित हैं—जिसकी सर्वोच्च आज्ञा में चलते हैं। (यस्य छाया अमृतं) जिसकी शरण या आश्रय पाना अमर होना है और (यस्य मृत्युः) जिसकी [जिससे दूर होना ही] मृत्यु है (कस्मै देवाय) उस "क" [सुखस्वरूप] देव का हम (हविषा विधेम) आत्मत्याग द्वारा पूजन करते हैं।

* *
*

देख कहीं

मा वः स्तेन ईशत माघशंसः

यजुर्वेद १—१

चुपके से धन लूटनेवाला और

पाप फैलानेवाला तुझ

पर हुकूमत न

करे

आषाढ़ मास

आषाढ़ (मिथुन) मास
के लिये

प्राणदायक व्यायाम
छाती, आमाशय और पेट में
स्वस्थता लानेवाला

१—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े हो जाइये। भुजाएँ छाती के सामने कन्धों के साथ समकोण बनाती हुई समरेखा में फैला लीजिये। हथेलियाँ नीचे की तरफ़ हों। मुठ्ठियाँ कस लीजिये और सारे शरीर को जहाँ तक हो सके वहाँ तक कसा हुवा रखिये।

अब एक पेट तक पहुँचनेवाला गहरा श्वास अन्दर लीजिये और साथ ही हाथों को धीरे धीरे इतना मोड़िये कि मुठ्ठियाँ ऊपर की तरफ़ आ जायँ, पेट को अन्दर सिकोड़ते हुवे श्वास को धीमे धीमे बाहिर निकालिये। ऐसा करते हुवे हाथों को पहिली स्थिति में अर्थात् मुठ्ठियों को नीचे की ओर ले आइये। इस सारे समय में शरीर की सारी मांसपेशियाँ पूरी तरह तनी रहनी चाहियें। अब शरीर को ढीला छोड़िये और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिये।

इस मास के लिये दूसरी व्यायाम निम्न है—

२—पूर्वनिर्दिष्ट स्थिति में खड़े होकर कटि प्रदेश से ऊपर के भाग को इतना झुकाइये कि ऊपर का भाग टाँगों के साथ समकोण बना लेवे। हाथ नीचे लटके रहें। अब कटि के निचले भाग की स्थिति

को बिल्कुल न बदलने देते हुवे दोनों हाथों को इस तरह ऊपर की तरफ़ ले जाइये कि उन दोनों हाथों की पीठ (पृष्ठ भाग) कंधे के ऊपर मिल जायँ। इस अवस्था में हाथों की मुट्ठियाँ कसी रहनी चाहिये। शरीर की अन्य मांसपेशियाँ ढीली रखी जा सकती हैं। हाथों को जब ऊपर की ओर ले जा रहे हों तब अन्दर श्वास लीजिये और जब नीचे की ओर ला रहे हों तब श्वास बाहिर निकालिये।

शरीर को ढीला छोड़िये और इस व्यायाम को फिर फिर कीजिये।

इन दोनों व्यायामों में मन को छाती, आमाशय और पेट पर एकाग्र करना चाहिये और मन में इनको पूर्ण स्वस्थ्य रूप में चित्रित करना चाहिये।

ध्यान—मरी छाती, आमाशय और पेट बिल्कुल ठीक काम कर रहे हैं और स्वस्थ्य हैं—इत्यादि प्रकार के शब्द बनाकर ध्यान कीजिये।

इन अंगों को गौणतया चैत्र; आश्विन और पौष मास की प्राण-दायक व्यायामों द्वारा भी लाभ पहुँचता है।

* *
*

अश्मन्वती रीयते संरभध्वं, उत्तिष्ठत प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीमो अशिवा ये असन्,शिवान् वय मुत्तरेमाभिवाजान्॥

यजु० १५.१०॥ ऋ० १०.५३.८॥ अथर्व० १२.२.२६॥

विनय

भाइयो ! सांसारिकता की नदी बड़े वेग से बह रही है। अपने अभीष्ट सुखों को, सच्चे भोगों को, बलों को हम इस नदी के पार पहुँचकर ही पासकते हैं। पर हमें बहाये लिये जानेवाले विषयों के इस भारी प्रवाह को तर जाना भी आसान कार्य नहीं है। यह नदी बड़ी विकट है। इस में पड़े हुवे भोज्य-पदार्थों के बड़े बड़े और फिसलानेवाले चिकने पत्थर हमारे पैरों को जमने नहीं देते हैं। इन शिलाओं की ठोकर खाकर क़दम क़दम पर गिर पड़ने का डर है, उधर नदी का वेग हमें बहाये लिये जाता है। परन्तु पार बिना पहुँचे हमें सुख, शान्ति भी नहीं

मिल सकती। अतः भाइयो! उठो, मिलकर एक दूसरे का सहारा देते हुवे आगे बढ़ो। हिम्मत करके उठ खड़े होवो और दृढ़ता के साथ प्रबल यत्न करते हुवे इस नदी के पार उतर जावो। पर सबसे बड़ी विपत्ति तो यह है कि पहिले ही पत्थरोंवाली और वेगवती इस नदी के पार उतरना इतना मुश्किल हो रहा है, ऊपर से हमने अपने बहुत से 'अशिव' संग्रहों का बोझ भी सिर पर लाद रखा है। भोगेच्छा, कुसंस्कार, अधर्म की वासना तथा पापों के भारी बोझ से हमने अपने को बोझल बना रखा है। इसके कारण हमारा पार उतरना असंभव हो रहा है। आओ साथियो! भाइयो! पहिले हम इन सब 'अशिव' वस्तुओं को यहीं फेंक देवें। इन्हें छोड़कर हलके हो जायँ जिससे कि हम नदी उतरने के लिये आसानी से अपनी पूरी शक्ति लगा सकें। जितने शुभ, कल्याणकारी 'वाज' हैं, सच्चे भोग हैं, बल हैं, ज्ञान हैं, वे तो हमारे लिये बहुतायत में नदी के पार विद्यमान हैं, हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। तो हम मूर्ख लोग इन 'अशिव' वस्तुओं को किस लिये उठाये हुवे हैं? यह बोझ तो हमें डुबा देने में ही सहायक होगा। यदि इस बोझ के साथ हम स्वयं डूब मरना या नदी-प्रवाह हो जाना नहीं चाहते तो हमें इन सब बुराइयों का तो यहीं नदी-प्रवाह कर देना चाहिये। इन 'अशिव' संग्रहों के बोझ से छुटकारा पाकर हमें एक दूसरे को सहारा देते हुवे आगे बढ़ना चाहिये। विषयों के प्रबल प्रवाह से बचने के लिये हम सबको परस्पर एक दूसरे के 'संरम्भ' (आश्रय) की ज़रूरत है। अतः आओ, हम सब मनुष्यसमाज के भाई उठें, हिम्मत करें, इन कूड़े की गठरियों को फेंक देवें और एक दूसरे की मदद करते हुवे एक

बार इस भयंकर नदी के पार उतर जायँ तो हम देखेंगे कि जिस स्वर्ग की हमें चाह थी, जिन मंगलकारी ज्ञानों और बलों की हम में कमी थी, वे सब वहाँ विद्यमान हैं।

हे कल्याण चाहने वालो ! यह नदी चाहे कितनी विकट हो, पर इसे बिना पार किये और कुछ चारा नहीं है।

शब्दार्थ

(अश्मन्वती) पत्थरों, शिलाओंवाली नदी (रीयते) वेग से वह रही है। (सखायः) हे साथियो, मित्रो ! (उत्तिष्ठत) उठो, (संरभध्वं) मिल कर एक दूसरे को सहारा दो और (प्र तरत) इस नदी को प्रबलता से तर जाओ। आओ, (ये अशिवाः असन्) जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं उन्हें हम (अत्र जहीमः) यहीं छोड़ देवें और (शिवान् वाजान् अभि) कल्याणकारी सुखों, बलों और ज्ञानों को पाने के लिये (वयं) हम (उत्तरेम) इस नदी के पार हो जायँ।

* *
*

३ आषाढ़

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति, यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सन्निषद्य यन्मंत्रयेते, राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः ॥
अथर्व० ४.१६.२॥

विनय

पाप से वास्तव में डरने वाले मनुष्य संसार में विरले ही होते हैं। आम तौर से तो लोग पाप करने से नहीं डरते किन्तु पापी समझे जाने से डरते हैं। जहाँ कोई देखनेवाला न हो वहाँ अपने कर्तव्य से विमुख हो जाना, कोई पाप कर लेना, साधारण बात है। पाप व अपराध कर्म से बचने की कोई कोशिश नहीं करता; कोशिश तो इस बात की होती है कि हम वैसा करते हुवे कहीं पकड़े न जायँ। यही कारण है कि मनुष्य अपने बहुत से कार्य छिप कर अकेले में करने को प्रवृत्त होता है। परन्तु यदि उसे इस संसार के सच्चे एकमात्र राजा वरुणदेव की खबर हो तो वह ऐसे घोर अज्ञान में न रहे। यदि उसे

मालूम हो कि वे जगत् के ईश्वर वरुण भगवान् सर्वव्यापक और सर्वद्रष्टा हैं तो वह पाप के आचरण करने से डरने लगे; वह एकान्त में भी कभी पाप में प्रवृत्त न हो सके। सचमुच हम बड़े धोखे में हैं यदि हम समझते हैं कि हम कोई काम गुप्त तौर पर कर सकते हैं। उस सर्वद्रष्टा, सर्वव्यापक वरुण से तो कुछ भी छिपा कर करना असंभव है। जब हम दो आदमी कोई गुप्त मंत्रणा करने के लिये किसी अँधेरी से अँधेरी कोठड़ी में जाकर बैठते हैं और सलाहें करने लगते हैं तो यद्यपि हम समझ रहे होते हैं कि हम दोनों के सिवाय संसार में और कोई इन बातों को नहीं जानता तथापि इन सब बातों को वह वरुण देव वहीं तीसरा होकर बैठा हुआ सुन रहा होता है। यदि हम वहाँ से उठकर किसी किले में जा बैठें, या किसी सर्वथा निर्जन वन में पहुँच जायँ तो वहाँ पर भी वह वरुणदेव तो तीसरा साक्षी होकर पहिले से बैठा हुवा होता है। उससे छिपाकर हम कुछ नहीं कर सकते हैं। यदि हम दूसरे किसी आदमी को भी कुछ नहीं बताते, केवल अपने ही मन में कुछ सोचते हैं, तो वह वरुण तो उसे भी जानता है, सब सुनता है। हमारे चलने या ठहरने को हमारी छोटी से छोटी हरकत को, वह जानता है। हम दूसरों को धोखा देते हैं, ठग लेते हैं और समझते हैं कि इसका किसी को पता नहीं लगा, तब हम खुद कितने भारी धोखे में आये होते हैं, क्योंकि उस वरुण को तो सब कुछ पता होता है और हमें उसका फल भोंगना पड़ता है। इसी तरह हम जो कुछ छिप कर करते हैं, दूसरों से द्रोह कर उन्हें नाना कष्ट व पीड़ायें पहुँचाते हैं, उन्हें बेशक कोई दूसरा मनुष्य न जानता हो किन्तु जो उन पापों का असली

दंड देनेवाला हमारा राजा वरुण है वह तो सब प्रत्यक्ष देख रहा होता है। ओह! मनुष्य केवल यदि उस वरुण राजा की सर्वत्र व्यापकता को और सर्वदर्शिता को जान जाय—सचमुच जान जाय—तो वह एक ही दिन में धर्मात्मा, निष्पाप हो जाय।

शब्दार्थ—

(यः तिष्ठति, चरति) जो मनुष्य खड़ा है, या चलता है, (यः च वञ्चति) जो दूसरों को ठगता है (यः निलायं चरति) जो छिपकर कुछ करतूत करता है (यः प्रतङ्कं [चरति]) जो दूसरों को भारी कष्ट आदि देकर अत्याचार करता है और (द्वौ सन्निषद्य) जब दो आदमी मिल कर, एक साथ बैठकर, (यत् मंत्रयेते) जो कुछ गुप्त, मंत्रणायें करते हैं (तत्) उसे भी (तृतीयः) तीसरा होकर (वरुणः राजा) सर्वश्रेष्ठ सच्चा राजा परमेश्वर (वेद) जानता है।

* *

*

३ आषाढ़

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तात्, न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिवःस्पशःप्र चरन्तीदमस्य, सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥

अथर्व० ४.१६.४॥

विनय

एक राष्ट्र (रियासत) के राजद्रोह का अपराधी भी उस के दंड से किसी दूसरे राष्ट्र में भाग जाकर बच सकता है। परन्तु इस संसार के परिपूर्ण राजा—पापनिवारक सच्चे राजा—वरुण का अपराध करके, इस संसार के अटल नियमों का भंग करके अर्थात् झूठ, द्रोह, हिंसा आदि करके, यदि कोई चाहे कि हम कहीं भाग जाकर इनके प्राप्तव्य प्रतिफलों से बच जायँ तो यह असम्भव है। वरुण राजा के राज्य के बाहिर मनुष्य कभी भी नहीं जा सकता। इस विस्तृत, दुर्गम, विशाल भूतल के किसी भी प्रदेश में ही नहीं, किन्तु वह हो सके तो चाहे मंगल, शुक्र आदि किसी अन्य लोक में भी चला जावे और यदि सम्भव हो तो चाहे वह इस सौर-मण्डल (दिवः) से भी

परे कहीं जा पहुँचे, तो भी वह वरुण राजा के राज्य के पार नहीं जा सकता। वह चाहे कहीं चला जाय, अपना प्राप्तव्य दंड उसे ज़रूर भोगना पड़ेगा, अपने किये हुवे कर्म के बन्धन से वह कहीं भी जाकर नहीं छूट सकता। ये दुनियावी राजाओं (राजा कहलानेवालों) के गुप्तचर तो हमारे जैसे अज्ञानी मनुष्य ही होते हैं, उन्हें बहुत धोखे दिये जा सकते हैं और वे असंख्यों भ्रमों के भाजन होते हैं। परन्तु उस वरुण राजा के दिव्य गुप्तचरों से मनुष्य कभी बच नहीं सकता। वे सब कुछ जान लेने में समर्थ होते हैं। वे इस ब्रह्माण्ड भर में सर्वत्र व्यापक हुवे हुवे हैं। वे उस स्वयं-प्रकाश वरुणदेवरूपी सूर्य की अनन्त किरणें बनकर सब ब्रह्माण्ड में फैले हुवे हैं। वे उसकी ज्ञानशक्तियों के रूप में हैं। अतः हम मनुष्य जब किन्हीं ईश्वरीय नियमों का उल्लंघन करते हैं (शरीर से, वाणी या मन के मनन से भी मन में कोई भी अनिष्ट आचरण करते हैं) तो उसी क्षण, उसी स्थान पर ये दिव्य वरुण-दूत हमें जान लेते हैं, बल्कि हमें अपने अदृश्य पाशों से तत्काल बाँध भी लेते हैं, पर हमें कुछ मालूम नहीं होता। वरुण के 'स्पशों' (चरों) का यह कमाल देखो! यह परम गुप्तचरता देखो! वे हज़ारों आँखोंवाले, असंख्यों प्रकार से देखनेवाले 'स्पश', देश काल आदि के सब व्यवधानों को अतिक्रमण करके सब ठीक ठीक देखते हुवे ब्रह्माण्ड भर में विचर रहे हैं और नियम भंग होते ही हमें बाँध रहे हैं तथा इस तरह बाँध रहे हैं कि हमारा वह बंधन (पाश) तब तक नहीं टूटता है जब तक कि हम उसके प्रतिफल को भोग नहीं चुकते। वरुण राजा की ऐसी परिपूर्ण राज्य-व्यवस्था है। हे मनुष्य भाइयो!

यदि हम उस अपने पापनिवारक राजा की इस अटल व्यवस्था को समझ जायँ, सचमुच जान जायँ, तो इतने से ही हमारे सब पाप निवृत्त हो जायँ।

शब्दार्थ—

(यः उत) जो भी कोई जीव (द्यां अति) द्युलोक को पार करके (परस्तात्) उससे भी परे (सर्पात्) चला जाय (स) वह भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा से (न मुच्यातै) मुक्त नहीं हो सकता, बच नहीं सकता। (दिवः अस्य) प्रकाशस्वरूप इस वरुण के (स्पशः) गुप्तचर (इदं) इस सब ब्रह्माण्ड में (प्र चरन्ति) अच्छी तरह घूम रहे हैं जो (सहस्राक्षाः) हज़ारों आँखोंवाले होकर (भूमिं) इस भूमि को (अति पश्यन्ति) अतिक्रमण करके देख रहे हैं—जिसे अन्य नहीं देख सकते उसे भी देख रहे हैं।

* *
*

४ आषाढ़

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः, सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहितारन्तरस्मिन्, तासामेका वि पपातानु घोषम्॥
अथर्व० ७.४३.१॥

विनय

हे मनुष्य ! जो तू वाणियाँ बोला करता है, उनमें कुछ तेरा कल्याण करनेवाली होती हैं और कुछ अकल्याण करनेवाली। जो वाणियाँ सच्ची और प्यारी होती हैं, जो दूसरे के हित के लिये, लाभ पहुँचाने के लिये, सत्य फैलाने के लिये बोली जाती हैं वे कल्याणकारिणी होती हैं और जिन वाणियों को तू छल कपटपूर्वक, द्वेष व क्रोध के साथ, दूसरे की हानि पहुँचाने के लिये बोलता है उनसे तेरा भारी अकल्याण होता है। पर तू वाणियों के इस महान् भेद को न समझता हुवा इन सब प्रकार की वाणियों को बोलता जाता है—अच्छी बुरी दोनों

वाणियों को एक ही प्रकार प्रसन्नतापूर्वक बेखटके बोलता जाता है। तू शायद समझता है कि तेरे बोले हुवे शब्दों का जो कि उसी समय नष्ट होते दीखते हैं, तुझ पर कुछ असर नहीं होता या नहीं हो सकता। पर तुझे पता नहीं कि तू वाणी को केवल बोलता नहीं है किन्तु उसे धारण भी करता है। तू जो शब्द रूप में बोलता है वह तो वाणी का एक भाग (एक चौथाई भाग) है; उस वाणी के शेष तीन भाग तो तेरे अन्दर छिपे पड़े हुवे होते हैं, तुझमें धरे हुवे होते हैं। जो अभिप्राय तू शब्दों में (इस चौथी बैखरी वाणी में) बोलता है, वह अभिप्राय तेरे मन में (तीसरी मध्यमा वाणी के रूप में) समाया रहता है और मन में बोले जाने से भी पूर्व वह अभिप्राय तेरे अंदर साकार व निराकार ज्ञान के रूप में रहता है (जिन्हें कि क्रमशः दूसरी और पहली, पश्यन्ती और परा वाणी कहते हैं)। एवं तेरी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की वाणी तेरे अन्दर अपने तीन पाद धरे रहती है और चौथे पाद में वह बाहिर शब्दरूप में दीखती है। यह शब्दरूप चौथाई वाणी चाहे तुझे अपने पर कुछ असर कर सकनेवाली न दीखती हो, पर वाणी के इस समूचे रूप पर—वाणी के अंदर के इन तीनों रूपों पर—भी जब तू ध्यान देगा तो तुझे दीखेगा कि सच्ची कल्याणकारिणी वाणी तुझमें परा, पश्यन्ती और मध्यमारूप में ठहरी हुई तुझ पर कितना कल्यणकारी प्रभाव कर रही है और बुरे अभिप्राय से परा, पश्यन्ति और मध्यमारूप में धारण की हुई अकल्याण-कारी वाणी अन्दर अन्दर से तेरा कितना भारी अकल्याण कर रही है। अन्दर धारण किये वाणी के इन तीन रूपों द्वारा ही मनुष्य का उस उस वाणी के कारण कल्याण या अकल्याण

(पुण्य या पाप) हो रहा है, वह चौथा वैखरी रूप तो केवल अंदर के इन तीन रूपों का ही स्थूल प्रकाश मात्र कर रहा है। जो हमें बना या बिगाड़ रही हैं वह तो हमारे अंदर छिपी हुई ये तीन वाणियाँ हैं।

शब्दार्थ—

हे मनुष्य! (ते) तेरी (एकाः) एक (शिवाः) कल्याणकारिणी वाणियाँ हैं (ते एकाः अशिवाः) और एक अकल्याणकारिणी हैं, पर तू (सर्वाः) उन सब को (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त से (बिभर्षि) धारण करता है। वाणी के (तिस्रः वाचः) तीन भाग (अस्मिन् अन्तः निहिता) तेरे इस देह के अंदर छिपे रखे हैं (तासां एका) उनका एक हिस्सा ही (घोषं अनु) शब्द व आवाज़ के रूप में (विपपात) बाहिर निकलता है।

* * *

५ आषाढ़

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्, तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः, सर्वान् पथो अनृणा आक्षियेम॥

अथर्व० ६.११७.३॥

विनय

मनुष्य तो जन्म से ही कुछ ऊँचे ऋणों से बँधा हुवा है। मनुष्य उत्पन्न होते ही ऋणी है और उन वास्तविक ऋणों से मुक्त होना ही मनुष्य-जीवन की इति-कर्त्तव्यता है। मनुष्य ने संसार के तीनों लोकों को भोगने के लिये जो तीन शरीर पाये हैं, उसी से वह तीन प्रकार से ऋणी है। हे प्रभो। हम चाहें पितृयाण मार्ग के यात्री हों या देवयान के, हम इन तीनों लोकों की अनृणता करते हुवे ही रहें। हमें अपनी सब-शक्ति और सब यत्न इन ऋणों को उतारने में ही व्यय करते हुवे जीवन बितावें। इस स्थूल भूलोक का ऋण अन्यों को भौतिक सुख देने से, तथा समाज को कोई अपने से श्रेष्ठतर भौतिक संतान दे जाने से उतरता है। इसी तरह मनुष्यों को जगत् की प्राकृतिक अग्नि आदि शक्तियों से तथा साथी मनुष्यों की निस्स्वार्थ सेवाओं से जो सुख निरन्तर मिल रहा है उसके ऋण को उतारने के लिये, इन यज्ञ-चक्रों को जारी रखने के निमित्त उसे यज्ञकर्म करना भी आवश्यक है। और तीसरे ज्ञान के लोक से मनुष्य को जो ज्ञान का परम लाभ हो रहा है उसकी संतति भी जारी रखने के लिये स्वयं विद्या का स्वाध्याय और प्रवचन करके उससे उसे उऋण होना चाहिये। जो त्यागी लोग

सांसारिक-भोग की कामना नहीं करते अतएव जिन्हें ये तीन ऋण इस तरह नहीं बाँधते, उन ब्रह्मचर्य, तप, श्रद्धा के मार्ग से चलनेवाले देवयान के यात्रियों को भी अपने तीनों शरीरों के उपयोग लेने का ऋण चुकता करना चाहिये अर्थात् अपने भौतिक शरीर से वे बेशक सन्तान उत्पन्न करना आदि न करेंगे पर उस द्वारा सेवा के अन्य स्थूल कर्म उन्हें करने ही चाहियें और अपने प्राण व मन के दूसरे शरीर से प्रेम दया आदि की धारायें बहानी चाहियें तथा द्युलोक सम्बन्धी तीसरे विज्ञानमय शरीर द्वारा ज्ञान-सूर्य बनकर ज्ञान की किरणें प्रसारित करते हुवे तीसरे लोक में भी अनृण होना चाहिये।

ओह! मनुष्य तो सर्वदा ऋणों से लदा हुआ है! जो जीव इस त्रिविध शरीर को पाकर भी अपने को ऋणबद्ध नहीं अनुभव करता वह कितना अज्ञानी है! हमें तो, हे स्वामी! ऐसी बुद्धि और शक्ति दो कि हम चाहे देवयानी हों या पितृयानी, हम सब लोकों में रहते हुवे, सब मार्गों पर चलते हुवे, लगातार अनृण होते जावें। अगले लोक में पहुँचने से पहले पूर्वलोक के ऋण हम अवश्य पूरा कर देवें और अगले मार्ग पर जाते हुवे पिछले मार्ग के ऋण उतार चुके हों। इस तरह लगातार घोर यत्न करते हुवे हम सदा, सब लोकों में अनृण होकर ही रहें।

हे प्रभो! हमें अनृण रखो, हमें अनृण करो।

शब्दार्थ—

(अस्मिन् अनृणाः) इस लोक में हम अनृण होवें, (परस्मिन् अनृणाः) परले लोक में अनृण हों और (तृतीये लोके अनृणाः स्याम) तीसरे लोक में भी अनृण होवें। (ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः) जो देव-यान या पितृयाण मार्गों के लोक हैं उनमें (सर्वान् पथः) सब मार्ग चलते हुवे हम (अनृणाः आ क्षियेम) ऋणमुक्त होकर रहें, बसें।

६ आषाढ़

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षात्, अपां स्तोको अभ्यपप्तद् रसेन।
समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने, छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥
अथर्व० ६.१२४.१॥

विनय

हे महान् प्रभु ! हम स्वल्प मनुष्य अपनी तुच्छ कामनाओं को यूँ ही इतना भारी समझा करते हैं। हम मनुष्यों को जिस समय जो कामना होती है, उसे हम इतना अधिक महत्व देते हैं कि हम समझते हैं यदि हमारी वह इच्छा पूरी न हुई तो हम मर जायँगे और यदि पूरी हो गई तो सदा के लिये उससे निहाल हो जायँगे—मानों फिर हमें कुछ कामना ही न रहेगी। परन्तु हम अपनी इच्छाओं को इतना महत्व इसीलिये देते हैं क्योंकि हम तुम्हारे अनंत महत्व को अनुभव नहीं करते। हम यह अनुभव नहीं करते कि तुम तो जल के अपार समुद्र हो और हमारी प्रबल से प्रबल प्यास को (जिसके मारे हम मरे जाते हों) एक लुटिया भर पानी से बुझा सकते हो। नहीं, तुम तो कामनाओं के बरसाने वाले, सब तरफ फैले हुवे असीम अन्तरिक्ष हो, और तुम हमें अपनी इस अनंत वृष्टि में से केवल एक बूँद ही देकर तृप्त कर सकते हो—छका सकते हो। तुम्हारे दिव्यज्ञानमय बृहत् आकाश से बरसनेवाले ज्ञान-बिन्दुओं में से एक बूँद में ही वह रस है, वह शक्ति है कि हम उस ज्ञान-बिन्दु को ही पाकर परितृप्त हो जाते हैं। हे प्रभु ! मुझे न जाने कितनी कामनायें थीं, मुझे अपने में न्यूनतायें ही न्यून-

तायें दिखलायी देती थीं और मैं समझता था कि मेरी यह न्यून-तायें पूरा यत्न करते हुवे भी कई जन्मों में भी पूर्ण न होंगी। पर, हे पिता ! मैं क्या बताऊँ, तेरे ज्ञानप्रकाशमय दिव्य अन्तरिक्ष से मुझ पर तेरी एक ही बूँद गिरी, पर उसमें वह रस था कि उस तेरे शक्तिकण द्वारा मुझमें इन्द्रिय (इन्द्रवीर्य=आत्म-शक्ति) जाग गयी, मुझको स्थिर पोषक रस मिल गया, मुझमें छन्दोवद्ध दिव्यज्ञान प्रकट होने लगा, मुझे यज्ञों का दर्शन होने लगा (अर्थात् मुझे किस समय किस प्रकार से आत्मत्यागमय शुभ कर्म करना चाहिये, यह भासित होने लगा) और पुण्यों द्वारा जिस सुख का अर्जन संसार करना चाहता है वह सुख भी मेरा साथी होगया। इतनी सब वस्तुयें मुझे इकट्ठी मिल गईं। लोगों को इस पर सहज ही विश्वास न होगा, पर यह सच है। सचमुच तेरे ज्ञान-भंडार का एक ज्ञानकण, तेरे बलराशि का एक अणु, इस तुच्छ मनुष्य को सर्वथा भरपूर कर देता है। मनुष्यों की जन्मजन्मान्तरों की भारी भारी कामनायें एक क्षण में तेरे एक स्वल्प दानबिन्दु द्वारा परिपूर्ण होजाती हैं, केवल हम तेरी महिमा को नहीं पहिचानते।

शब्दार्थ—

(दिवः) तेरे ज्ञानप्रकाशमय द्युलोक रूपी (बृहतः अन्तरिक्षात् नु) महान् अन्तरिक्ष से ही (अपां स्तोकः) तेरे ज्ञान कर्म शक्तिरूप जलों का एक स्वल्पकण (रसेन) अपने तृतिदायक रस से युक्त (मां अभि) मुझ पर (अपप्तत्) गिरा; और (अहं) मैं (अग्ने) हे परमेश्वर ! तेरे इस स्वल्प जलकण द्वारा (इन्द्रियेण) इन्द्रवीर्य= आत्मबल से (पयसा) पोषक ज्ञान से (छन्दोभिः) वेदमंत्रों से (यज्ञैः) यज्ञों से, शुभकर्मों से और (सुकृतां कृतेन) पुण्य कर्मों के फल अर्थात् सुख से (सं) संयुक्त हो गया हूँ।

७ आषाढ़

सहस्राह्ण्यं वियतौ अस्य पक्षौ, हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् ।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य, संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥
अथर्व १०.८.१८॥

विनय

मनुष्य प्रतिक्षण चेष्टायमान है । जीव को दिनरात किसी न किसी अभीष्ट के पान की चाह या किसी दुःख को हटाने की चाह लगी रहती है और उसके लिये वह सदा कुछ न कुछ करता रहता है । जीव को तब तक चैन नहीं मिल सकता जब तक कि वह उस अवस्था में न पहुँच जाय जहाँ उसे कुछ कमी न रहेगी, जहाँ उसकी सब कामनायें प्राप्त हो जायँगी, सब दुःख समाप्त हो जायँगे । उस स्वर्गलोक को पाने के लिये यह 'हरि' (इधर उधर फिरनेवाला) हंस न जाने कब से उड़ रहा है । यह अपने अभीष्ट लोक को कब पहुँचेगा ? यह लगातार ज्ञान और कर्म के सहारे से उस स्वर्ग को न जाने कब से ढूँढ रहा है ? सुख-प्राप्ति के विषय में उसे जो ज्ञान मिलता है उसके अनुसार वह कर्म करता है, कर्म करने के बाद उसे कुछ अन्य नया अनुभव (ज्ञान) मिलता है, तो वह फिर उसके अनुसार कर्म करता है । इस तरह यह हंस अपने ज्ञान और कर्म (अन्दर से बाहिर की तरफ चेष्टा और बाहिर से अन्दर की तरफ चेष्टा; प्राण और अपान) के पंखों को हिलाता हुवा उड़ा चला जा रहा है । हज़ारों दिन बीत गये हैं पर उसके पंख फैले ही हुवे हैं । न उसे अभीष्ट स्वर्ग मिलता है और न

वह अपनी उड़ान बन्द करता है। पर मज़ेदार बात यह है कि स्वर्ग के सब देवों को, सब देव-गुणों को—अजरत्व, अमरत्व, निष्कामत्व, पूर्णत्व आदि सब देवत्वों को—अपने हृदय में लिये हुवे फिर रहा है। वह लाखों योनियों में, लोकों में नाना देशों में, उड़ रहा है। इस जगत् की सब उत्पन्न वस्तुओं, सब भुवनों, को देखता हुवा जा रहा है। पर सब देश उसके हृदय में ही स्थित हैं। अतः उसे जब कभी स्वर्ग की प्राप्ति होगी, तब उसे अपने हृदय में ही होगी। पर तब तक वह असंख्यातों स्थानों में, प्रभु की इस अगम्य सृष्टि के करोड़ों भुवनों को देखता हुवा विचर रहा है, चौबीसों घंटे ज्ञान और कर्म की कुछ न कुछ चेष्टा करता हुवा स्वर्ग को ढूँढ़ रहा है, अपने इन पंखों को फड़फड़ाता हुवा निरन्तर गति ही कर रहा है। ओह ! यह कब अपने लक्ष्य पर पहुँचेगा ! किस दिन अपने पंखों को समेट कर बैठेगा ! इसके पंख तो हज़ारों हज़ारों दिनों से खुले हुवे हैं !!

शब्दार्थ—

(स्वर्गं पततः) स्वर्ग को जाते हुवे (अस्य) इस (हरेः हंसस्य) ह्रियमाण या हरणशील[1] जीवात्मा हंस के (पक्षौ) पंख (सहस्राह्ण्यं) सहस्रों दिनों से (वियतौ) खुले हुवे हैं, फैले हुवे हैं (सः) वह हंस (सर्वान् देवान्) सब देवों को (उरसि) अपने हृदय में (उपदद्य) लिये हुवे (विश्वा भुवनानि) सब भुवनों को (सं पश्यन्) देखता हुवा (याति) जा रहा है।

१—हरय इति मनुष्य नामसु पठितम्।
हरिः=भोगों को हरण करनेवाला या इधर उधर ह्रियमाण।

८ आषाढ़

या मा लक्ष्मीः पतयालूरजुष्टा, अभिचस्कन्द वन्दनेव वृक्षम्।
अन्यत्रास्मत् सवितस्तामितो धाः, हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः॥

अथर्व० ७. ११५.२॥

विनय

हे जगदीश्वर ! मेरे पास जो ऐसी लक्ष्मी पड़ी हुई है जो कि 'अजुष्टा' है जो कि सेवित नहीं होती, जो कि किसी की प्रीतिमय सेवा में नहीं आती, वह किस काम की है ? वह लक्ष्मी 'लक्ष्मी' नहीं है । वह लक्ष्मी दुराचार बढ़ाने का कारण होती है । 'अजुष्टा' लक्ष्मी पतन का भारी प्रलोभन होती है । ऐसा धन बुरे कार्यों में ही बरबाद हुवा करता है और मनुष्य को नीचे गिरा देता है । ऐसी लक्ष्मी को मैं मोह के मारे त्यागता (परहित में दे देता) भी नहीं हूँ और उस सब का स्वयं उपयोग भी नहीं कर सकता हूँ । इसलिये वह या तो बुरे काम में पतित हो जाती है या यूँ ही सड़कर नष्ट हो जाती है। पर सब से बुरी बात तो यह है कि यह मेरी ऐसी 'लक्ष्मी' मुझे चिमटी हुई हर तरह से मुझे ही बरबाद करती है, मेरे जीवन-रस को चूसती है । अतः, हे मेरे प्रेरक प्रभो ! मुझमें ऐसी हिम्मत दो कि मैं उस लक्ष्मी को—इससे पहिले कि वह पतित होने लगे और मुझे विनष्ट करने लगे—मैं उसे कहीं अन्यत्र धारित कर दूँ—किसी अच्छे कार्य में लगा दूँ, उसे अपने पर लादे न रखूँ। हे सवितः ! तुम ही उस दुर्लक्ष्मी को यहाँ से तो हटा दो। यह 'लक्ष्मी' नहीं है, किन्तु वह मेरे लिये विनाशक शापरूप है।

वह मुझ पर मोह द्वारा चिमटी हुई केवल मेरे जीवन-रस को सुखा रही है, जैसे वन्दना बेल जिस वृक्ष पर लगती है उस वृक्ष को बिल्कुल सुखा देती है, वैसे ही यह अजुष्टा लक्ष्मी मुझे घेरे हुवे है, मेरा विनाश कर डालने के लिये मुझे आच्छादित किये हुवे है। हे प्रभो ! तुम मुझसे इसे छुड़ाओ। मेरे मोह का भंग करके इसे यहाँ से हटाने का मुझे सामर्थ्य दो, नहीं तो यह 'अजुष्टा' लक्ष्मी मुझे चूस कर ख़तम कर रही है—मेरी उन्नति को रोक रही है, मेरे आत्म-तेज को हरती जा रही है।

हे प्रेरक ! मेरी प्रार्थना है कि आगे से ऐसा धन तो मेरे पास आने ही न पावे। मुझे तुम बेशक थोड़ा सा धन देना, पर वह धन चमकता हुवा, तेजस्वी, निष्कलङ्क हो, हिरण्य हो, हितरमण हो। वह धन सर्वांश में उपयोगी हो, उसका एक एक अंश मेरे तेज, मेरे आत्मवीर्य को बढ़ानेवाला हो। तुम्हारे 'हिरण्यहस्त' से ही अब मैं धन चाहता हूँ। तेरे चमकते हुवे 'हिरण्यहस्त' से अब मुझे सदा ऐसा तेजस्वी धन मिलता रहे जिसका कि एक एक कण मेरे आत्म-तेज को बढ़ाने में व्यय हो तथा वह अन्यत्र भी जहाँ जाये वहाँ मनुष्यों के तेज के बढ़ाने में ही उपयुक्त होवे।

शब्दार्थ—

(अजुष्टा) असेविता, काम में न आनेवाली (पतयालूः) अतएव दुराचार में गिरनेवाली, मुझे गिरानेवाली (या) जो (लक्ष्मीः) लक्ष्मी (मा) मुझे (अभिचस्कन्द) चिमटी हुई है (वृक्षं वन्दना इव) जैसे कि सुखा देनेवाली वन्दना बेल वृक्ष को चिमट जाती है (तां) उस ऐसी लक्ष्मी को (सवितः) हे प्रेरक परमेश्वर ! (अस्मत् इतः अन्यत्र) तू हमसे, यहाँ से, जुदा (धाः) रख दे—कर दे (हिरण्य-हस्तः) हिरण्यहस्त से—तेजस्वी चमकते हाथ से तू (नः) हमें (वसु) ऐश्वर्य (रराणः) देता हुवा हो।

९ आषाढ़

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभूः, रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः, आत्मानं धीरमजरं युवानम्॥
अथर्व० १०.८.४४॥

विनय

हे मृत्यु-भय से तर जाना चाहनेवाले मुमुक्षु ! तू उस एक सर्वव्यापक तत्व को देख जो कि सर्वथा 'अकाम' है, जिस में किसी प्रकार की भी कोई कामना नहीं; अतएव जो कभी भी चलायमान नहीं होता, सदा सर्वथा धीर है; जो कि कभी न मरेगा और न कभी पैदा हुवा है; जो स्वयं ही अपने आधार से सदा विद्यमान है, जिसे कि कभी किसी अन्य ने जन्म नहीं दिया, जिस सदातन की सत्ता किसी अन्य के आश्रित नहीं

अतएव जिसकी अमृत सत्ता कभी खण्डित भी नहीं हो सकती, विनाश को नहीं प्राप्त हो सकती; जो कि आनन्दरस से सर्वथा परिपूर्ण है, हम लोग आनन्ददायक भोजन को यथेष्ट खाकर जैसे कुछ देर के लिये छके हुवे, परितृप्ति की अवस्था में रहते हैं वैसी ही आप्यायित अवस्था में जो सदा, त्रिकाल में रहता है, जो कि आप्तकाम है; जिसमें कोई किसी प्रकार की भी कमी, न्यूनता, अपेक्षा व आवश्यकता नहीं है, जो सर्वथा परिपूर्ण है, अखण्ड है, अतएव जो अकाम हुवा है उसे देख, उस एक तत्व को देख; उसे पहिचान। उस तत्व को अपने अन्दर खोज, अपने अन्दर पहिचान। वह दीखता है कि नहीं ? क्या तू अपने आप को वैसा अजर, अमर तत्व नहीं देखता ? जब तू अपने आपको अचलायमान, कभी बुड्ढा न होनेवाला, एकरस, नित्य, हमेशा एक समान युवा (जवान) देख लेगा तभी—केवल तभी—तू मृत्युभय से पार होवेगा। उस सच्चे आत्म-स्वरूप को देख लेने के बाद तू शरीर नहीं रहेगा । तब तू वही धीर, अजर, अमर, तत्व हो जायगा। तब मृत्यु कहाँ रहेगी ? तब तो जीने मरने में कोई भेद नहीं रहता, जीवन मरण दोनों ही जीवन हो जाते हैं, एक नये प्रकार का नित्य जीवन हो जाते हैं । हज़ारों मृत्युओं के बीच में भी आत्मा अपनी अमरता को घोषित करता है । परन्तु जब तक इस आत्म-स्वरूप का साक्षात् न हो जाय, मनुष्य अपने देह से बिल्कुल जुदा अपने आपको अजर अमर न देख ले, तब तक मृत्यु-भय नहीं जा सकता। मृत्यु से निर्भय होने का संसार में अन्य कोई दूसरा उपाय नहीं। जब तक मनुष्य ने यह आत्म-स्वरूप न पा लिया हो तब तक वह चाहे जितना विद्वान्, हज़ारों

ग्रन्थों का पढ़ने पढ़ाने और बनानेवाला हो जाय, उपदेष्टा हो जाय पर वह उसी तरह मृत्यु का मारा हुवा फिरता है जैसे कि एक चींटी या एक खटमल मरण-त्रास से डरकर भागती है। देखो वह अखंड, एकरस, सर्वथा अकाम, अचल, अमर, अभय नित्यतत्व। यदि मृत्यु को जीतना है तो देखोः—यह धीर, अजर, अमृत, अपना आत्मा। तब मृत्यु कहाँ है ? मरना कैसा ! अरे, मरना कैसा !!

शब्दार्थ—

जो (अकामः) सर्वथा कामनारहित (धीरः) धीर (अमृत) कभी न मरनेवाला (स्वयंभूः) स्वयं अपने आधार से सदा विद्यमान (रसेन तृप्तः) आनन्द-रस से परितृप्त (कुतश्चन न ऊनः) तथा किसी प्रकार की कोई भी न्यूनता न रखनेवाला है। (तं) उस (धीरं, अजरं, युवानं, आत्मानं एव विद्वान) धीर, अजर, सदा तरुण को आत्मस्वरूप जानकर ही मनुष्य (मृत्योः न बिभाय) मृत्यु से नहीं डरता—मृत्यु से निर्भय हो जाता है।

* *
*

१० आषाढ़

या स्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः, याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्व, अन्यत्र पापीरपवेशया धियः॥

अथर्व० ९.२.२५॥

विनय

हे काम! हे संकल्पमय देव! भगवान् तुम द्वारा ही अपनी कामनाक्रिया करते हुवे सब जगत् को उत्पन्न करते और चलाते हैं। हे जगत् व्यापक संकल्प! हम मनुष्यों में जो असंख्यात इच्छायें, कामनायें, संकल्प उठा करते हैं, वे भी सब असल में तुम्हारी ही तरंगें हैं, तुम्हारे ही असंख्यात रूप हैं। पर जो तुम हममें अनगिनत रूप धारण करके प्रकट होते हो, जो हम में अनगिनत इच्छायें प्रकट होती हैं, उनमें से हम देखते हैं

कि कुछ तो पूर्ण हो जाती हैं, सच हो जाती हैं और बहुत सी अपूर्ण रहकर केवल हमें दुःखी ही करने का कारण होती हैं। अतः मैं अब चाहता हूँ कि मुझ में इच्छा (संकल्प) उत्पन्न ही वह हों जो कि ज़रूर सत्य होनी हों। जो व्यर्थ रहनी हों पूर्ण न होनी हों, ऐसी इच्छा मुझ में प्रकट ही न हों, उत्पन्न ही न हों। मेरी चाहना है कि मैं 'सत्य संकल्प' हो जाऊँ— ऐसा हो जाऊँ जिस में संकल्प सत्य ही हों पर यह तब होगा— यह मैं जानता हूँ कि यह तब होगा—जब कि मुझ में तुम्हारे मंगलरूप ही (मंगल संकल्प ही) उत्पन्न होवेंगे। सब ऋषियों का अनुभव है कि जिन मनुष्यों के हृदय सर्वथा सत्यमय, पूर्णतः सत्यनिष्ठ, अतएव पवित्र होते हैं उनमें जो संकल्प उठता है, अपने संकल्प से वे जो कुछ चाहते हैं, जो कुछ वरते हैं वह अवश्य पूर्ण हो जाता है। चूँकि ऐसा सत्यनिष्ठ हृदय उस सत्यस्वरूप भगवान् से समरेखा में हो जाते हैं और अतः उनमें वे ही संकल्प उठते हैं जो कि सर्वथा मंगल होते हैं और सब जगत् के कल्याण के लिये होते हैं। यों कहना चाहिये उनमें ईश्वरीय संकल्प ही प्रतिध्वनित होते हैं। इस संसार में जो कुछ हो रहा है, सफल हो रहा है, वह सब ईश्वरीय संकल्प ही है और मंगलमय भगवान् का हरेक संकल्प (हम चाहें उसे समझ सकें या न समझ सकें) सर्व-कल्याण के लिये ही है। अतः अब मुझ में ऐसे ईश्वरीय, सत्य हो जानेवाले, भद्र-संकल्प ही उठें। अभी तक तो मेरे हृदय में अच्छी बुरी दोनों तरह की कामनायें उठती हैं, परन्तु हे संकल्पदेव ! अब सब पापी बुद्धियाँ मुझ से निकाल दो; जिस संकल्प में ज़रा भी अहित की कालिमा हो, मैल हो, वह अब मुझमें न रह सके।

मैं सत्य द्वारा अपने हृदय को शुद्ध करता हुवा यत्न करता हूँ कि अपने ज्ञान के अनुसार कोई भी अशिव, अभद्र संकल्प मुझ में न आवे, अतः हे देव ! तुम मुझमें सत्य होनेवाले अपने शिवरूपों द्वारा—केवल शिवरूपों द्वारा ही—मुझमें प्रविष्ट होवो। मेरे हृदय में सब तरफ़ से पवित्र कल्याणाकांक्षायें, मंगल कामनायें ही प्रवेश पावें।

शब्दार्थ—

(काम) हे संकल्पदेव ! (याः ते शिवाः) जो तेरे मंगलमय और (भद्राः) कल्याणकारी (तन्वः) स्वरूप हैं, (याभिः) जिन स्वरूपों से तू (यद् वृणीषे) जो कुछ वरता है वह (सत्यं भवति) सत्य हो जाता है। (ताभिः) उन अपने स्वरूपों के साथ (त्वं) तू (अस्मान्) हम में (अभि संविशस्व) सब तरफ से प्रविष्ट हो और जो (पापीः धियः) पापी बुद्धियाँ व संकल्प हैं, उनको (अन्यत्र अपवेशय) हम से जुदा करके दूर करदे।

* *
*

११ आषाढ़

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं, नाकस्य पृष्ठाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।
तस्मै प्रभाति नभसो ज्योतिषीमान्,स्वर्गःपन्थाःसुकृते देवयानः॥

अथर्व० १८.४.१४.॥

विनय

क्या तुम देवत्व पाना चाहते हो ? उस प्रसिद्ध बड़ी महिमा वाले 'देवयान' मार्ग के पथिक बनना चाहते हो ? परन्तु शायद तुम उस देवों के चलने के मार्ग को अभी समझ ही न सकोगे। बात यह है कि संसार में दो मार्ग चल रहे हैं। एक मार्ग से संसार के लोग भोग में, प्रकृति में, प्रवृत्त हो रहे हैं—विश्व के एक से एक ऊँचे सुखभोग पाने के लिये दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रहे हैं। दूसरे मार्गवाले लोग भोगों से निवृत्त होकर अपवर्ग की तरफ़, आत्मा की तरफ़, जारहे हैं। ये क्रमशः

पितृयाण और देवयान हैं। इन दोनों मार्गों द्वारा प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग नामक दोनों अर्थों को पूरा कर रही है। परन्तु प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों एक साथ कैसे हो सकती हैं? इसलिये जो लोग भोगों में विश्वास रखते हुवे मुँह उठाये उधर जा रहे हैं, उन्हें लाख समझाने पर भी वे आत्मा की बात नहीं सुनेंगे। देवयान मार्ग तो उन्हें ही भासता है जो भोगों की निस्सारता इतनी अच्छी तरह से समझ गये हैं, परम लुभावने बड़े बड़े दिव्य भोगों को (जिनका कि हमें अभी कुछ पता भी नहीं है) देख कर जो उनसे भी ऐसे विरक्त हो चुके हैं, कि वे अब संसार के सर्वश्रेष्ठ सुखभोग के इन्द्रासनों को छोड़ कर ज्ञानस्वरूप तत्व की शरण पाने के लिये व्याकुल हो गये हैं—भोगों में अन्धकार ही अन्धकार पाकर अब जो ज्ञानमय लोक में चढ़ना चाहते हैं। अतएव ऐसे मनुष्य अपने पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई, उद्दीप्त और सुरक्षित की हुई अन्दर की चित्ताग्नि का आश्रय लेकर उसमें ही वास्तविक यज्ञ करने लगते हैं। अन्दर की अग्नि को भूल वाह्याग्नि में बड़े बड़े यज्ञ तो पितृयाणवाले भी करते हैं परन्तु ऐसे सच्चे यज्ञरूपी शोभनकर्म करनेवाले उन 'सुकृत' लोगों को ही वह देवयान नामक मार्ग इस भोगवाले संसार के अन्धकारमय आकाश में चमकता हुवा दिखाई देने लगता है। यही मार्ग 'स्वः' को, आत्म-सुख को, आत्म-ज्योति को प्राप्त करानेवाला है। यदि तुम में अभी भोगलिप्सा बाकी है तो तुम्हें अभी वह जगमगाता हुवा ज्योतिषीमान् मार्ग भी दिखाई नहीं दे सकता। जबकि संसार के लिये आकर्षक और प्रार्थनीय बड़े बड़े स्वर्गीय भोगों और दिव्य विभूतियों के भोग भी आत्महीनता के कारण तुम्हें बिल्कुल बेकार, निःसत्व जचेंगे और यह आत्मप्रकाशशून्य भोग-

दायक लोक अन्धकारमय दीखने लगेगा तब उसी अँधेरे के बीच में सुवर्ण-रेखा की तरह और फिर विद्युत्-लता की तरह अन्त में चकाचौंध करनेवाली, अनन्तों सूर्यों के प्रकाश को भी मात करने वाली, ज्योति की तरह वह देवयान का दिव्य प्रकाश तुम्हारे लिये उत्तरोत्तर बढ़ता जायगा। तब भोगवादियों के लाख समझाने पर भी तुम्हें इन भोगों में राग नहीं पैदा होगा। अतः अभी ठहरो, अभी तो इतना याद रखो कि विषयभोग और ज्ञान बिल्कुल उलटी चीजें हैं। भोग-कामना की रात्रि के बिना हटे ज्ञान-सूर्य का उदय नहीं हो सकता।

शब्दार्थ—

जो मनुष्य (**नाकस्य पृष्ठात्**) सुखभोग के लोक से (**दिवं**) प्रकाशमय 'द्यौ' लोक के प्रति (**उत्पतिष्यन्**) ऊपर उठना चाहता हुवा और इस प्रयोजन से (**ईजानः**) वास्तविक यजन करता हुवा (**चितं अग्निं**) पुण्यकर्मों द्वारा चिनी हुई अग्नि का, आन्तर अग्नि का (**आ-अरुक्षत्**) आश्रय ग्रहण करता है (**तस्मै**) उस ही (**सुकृते**) शोभनकर्म करनेवाले मनुष्य के लिये (**ज्योतिषीमान्**) ज्योतिर्मय (**स्वर्गः**) आत्मसुख को प्राप्त करानेवाला (**देवयानः पन्थाः**) 'देवयान' मार्ग (**नभसः**) इस प्रकाशरहित संसार-आकाश के बीच में (**प्र भाति**) प्रकाशित हो जाता है।

*

* *

१२ आषाढ़

उतेयं भूमि र्वरुणस्य राज्ञः, उतासौ द्यौ र्बृहती दूरे अन्ता ।
उतो समुद्रो वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः ॥

अथर्व० ४.१६.३॥

विनय

इस सब संसार का एकमात्र राजा वरुण है, पापनिवारक परम श्रेष्ठ परमेश्वर है। इसके सिवा अन्य कोई इस विश्व में प्रभु (सर्वसमर्थ शासक) नहीं है। अन्य किसी दूसरे का आधिपत्य, शासन इस संसार पर चल नहीं रहा है। उस के सिवा और कोई संसार पर वास्तविक शासन कर भी नहीं सकता है, क्योंकि वही ऐसा अद्भुत परिपूर्ण है कि वह महान् से भी महान् होता हुवा सूक्ष्म से सूक्ष्म भी है। हमारी बुद्धि चाहे ऐसे अलखस्वरूप को न मान सके परन्तु वरुण ईश्वर

का स्वरूप ऐसा ही है । वह महान् तो इतना है कि यह विस्तृत विशाल भूमि ही नहीं किन्तु इससे भी लाखों गुना बड़ा द्युलोक भी उस वरुण राजा के हाथ में है । यह बड़ा भारी स्थूल दृश्य जगत् ही नहीं किन्तु इसकी अपेक्षा बहुत बड़ा जो प्रकाशमय (मनोमय, विज्ञानमय आदि सूक्ष्म) संसार है, वह भी सर्वथा वरुण राजा के आधिपत्य में ही है । इस भूलोक को तो हम कुछ जानते भी हैं, परन्तु वरुण राजा के अनन्त साम्राज्य के उस प्रकाशमय बड़े भारी विभाग को हम अभी नाम-मात्र को ही समझते हैं । और वह द्युलोक भी इतना विलक्षण है कि वह "दूरे अन्ता" है, वह दूर भी है और समीप भी है । आधिभौतिक रूप से वह दूर होता हुवा भी आध्यात्मिक रूप से यही हमारे अन्दर मौजूद है । तो आध्यात्मिक रूप से उस 'द्यौ' का अधिष्ठाता होता हुवा वह वरुण हमारे अन्दर भी सूक्ष्म से सूक्ष्म होकर घुसा हुवा है अर्थात् यों वह वरुण गहराई में भी अनन्त है जहाँ कि वह विस्तार में भी अनन्त है । एवं, संसार के ये दो प्रसिद्ध बड़े भारी समुद्र—एक पार्थिव समुद्र, भूमि का तीन पञ्चमांश भाग जलराशिमय पारावार तथा दूसरा इससे भी बहुत बड़ा अन्तरिक्ष समुद्र, जलवाष्पमय पारावार—ये दोनों समुद्र उस वरुण की कोख के समान हैं । परन्तु वरुण देव आकार में जहाँ इतने विशाल हैं, इतने विराट् शरीरवाले हैं कि ये बड़े जल-समुद्र उनके कोख में रहनेवाले ज़रा से पानी के समान है; तो साथ ही वे इतने सूक्ष्म भी हैं कि वे इतने विराट् शरीरधारी होकर भी इस जल के एक कण में (एक बिन्दु में) भी छिपे पड़े हैं, समाये हुवे हैं, व्याप्त हैं । वरुण राजा ऐसे हैं । अहो !

वरुण प्रभु के इस महान् से महान् होने के साथ ही सूक्ष्माति-सूक्ष्म होने के स्वरूप की भी यदि हम उपासना करें, विस्तार के साथ गहराई में भी बढ़े हुवे होने का हम यत्न करें, तो इस साधन से भी हम इतने शक्तिशाली हो जाँय और इतने सम हो जायँ कि हमारे सब पाप स्वयमेव निवारण हो जायँ, हमसे पापाचरण होना अस्वाभाविक हो जाय।

शब्दार्थ—

(इयं भूमिः) यह भूमि (उत) भी (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की है तथा (असौ) वह (बृहती) बड़ा तथा (दूरे अन्ता) दूरता और समीपता वाला (द्यौः) द्यौ लोक (उत) भी वरुण राजा का है। (उत उ) तथा (समुद्रौ) ये दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण देव की (कुक्षी) कोखें हैं (उत) और साथ ही वह (अस्मिन्) इस (अल्पे उदके) पानी की क्षुद्र बूँद में भी (निलीनः) छिपा हुवा है, व्याप्त है।

*

* *

१३ आषाढ़

इदमुच्छ्रेयो अवसानमागां, शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम्।
असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु, न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु॥

अथर्व० १९.१४.१॥

विनय

ऐ मेरे भाई ! मैंने अब तक तुमसे बहुत द्वेष किया, खूब दुश्मनी की। तुमने मुझे नुकसान पहुँचाया तो बदले में मैंने तुम्हें पहुँचाया, तुमने फिर उसका बदला लिया तो मैंने उसका प्रत्युत्तर दिया, इस तरह हमारी द्वेषाग्नि दिनोंदिन बढ़ती ही गयी है, भयंकररूप धारण करती गयी है। इस द्वेष से हम दोनों ही का बहुत नुकसान हो चुका है, हम शीर्ण हो चुके हैं। मैं देखता हूँ कि क्रोध में आकर दांत पीसते हुवे उत्तर का प्रत्युत्तर देते जाने का, ईंट का जवाब पत्थर से देते जाने का, कहीं

अन्त नहीं है सिवा इसके कि हम दोनों का शीघ्र ही पूरा विनाश हो जाय। इसलिये कल्याण इसी में है कि अब हम इसे ख़तम करें। हम में से कोई एक अब उत्तर का प्रत्युत्तर न देकर, क्रोध का जवाब क्रोध में न देते हुवे शान्ति में देकर, इसमें विराम लगा देवे। इसी में कल्याण है, निश्चय से इसी में कल्याण है। इसी तरह यह बढ़ती जाती हुई, हमारा नाश करनेवाली क्रोधाग्नि शान्त होगी। द्वेष कभी प्रतिद्वेष से शान्त नहीं होता है। अतः तुम तो चाहे अब भी मुझ से द्वेष करो, मुझे चाहे कितनी हानि पहुँचाओ, पर मैं अब उसका जवाब नहीं दूँगा। मैं आज इस द्वेष-परम्परा का अवसान करता हूँ। आज से तुम मेरे शत्रु नहीं हो, तुम तो मेरे भाई हो। मेरे हृदय के किसी कोने में भी अब तुम्हारे प्रति द्वेष का लेश नहीं है। देखें, अब तुम मुझसे कब तक द्वेष करते रहोगे, कर सकोगे। मैं तो अब तुम्हारे क्रोध को, तुम्हारे क्रोध-प्रेरित सब नुकसान को प्रेमपूर्वक सहता ही जाऊँगा; प्रेम ही करता जाऊँगा। मैं आज अपने द्वेष के सब शस्त्र फेंक कर इस दिशा में पूरी हार मानकर निश्चिन्त हो गया हूँ। द्वेष ख़तम करते ही मैं तो आज बड़ा विश्राम अनुभव कर रहा हूँ। अब जब कि मैंने इस कल्याण के मार्ग का अवलम्बन किया है तो, हे द्यौ और पृथिवि! अब तुम भी मेरे लिये कल्याणकारी हो जावो। मेरे अन्तःद्वेष के कारण अब तक यह संसार भी मुझे तपता अनुभव हुवा करता था। पर अब तो यह सब आकाश और भूमि, आसमान और ज़मीन, यह सब संसार मेरे लिये कल्याणमय हो जाय। हे भाई! केवल तुम्हारे प्रति ही नहीं, किन्तु किसी भी व्यक्ति के प्रति आज से मेरा द्वेष नहीं रहा है। अतः ये सब विस्तृत

दिशायें मेरे लिये आज से बिल्कुल असपत्न हो गई हैं, शान्त और सुखदायिनी हो गई हैं। पहिले मैं शत्रुओं के भय-त्रास, या आशंका में सदा उलझा रहता था, पर द्वेष छोड़ देने से सब के प्रति प्रेम ही प्रेम हो जाने से आज मैं सर्वथा निर्भय हो गया हूँ। मैं आज सब दिशाओं और सब संसार में प्रेम, अद्वेष, मिठास, आनन्द, निश्चिन्तता और निर्भयता को ही अनुभव कर रहा हूँ।

शब्दार्थ—

(इदं उत् श्रेय:) अब यह ही कल्याणकर है कि (अवसानं आ अगां) मैं अब समाप्ति पर आजाऊँ, द्वेष-परम्परा का विराम कर दूँ। अत: हे शत्रु ! (त्वां) तेरे साथ (न वै द्विष्म:) मैं तो द्वेष करना छोड़ ही देता हूँ। (द्यावा पृथिवी) द्यौ और पृथिवी भी (मे) मेरे लिये (शिवे अभूताम्) अब कल्याणकारी हो जायँ, (प्रदिश:मे असपत्ना: भवन्तु) सभी दिशायें मेरे लिये शत्रुरहित हो जायँ (न: अभयं अस्तु) मेरे लिये अब अभय ही अभय हो जाय।

* *
*

१४ आषाढ़

अभयं मित्रादभयममित्रात्, अभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः, सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अथर्व० १९.१५.६॥

विनय

हे जगदीश्वर ! इस तेरे जगत् में, इस तेरे न्यायपूर्ण सच्चे शासन में रहते हुवे मुझे कोई भी भय क्यों होना चाहिये ? तू सब जगत् में सदा कल्याण ही कल्याण कर रहा है तो फिर मुझे कभी भी कोई डर क्यों होवे ? । भय करना नास्तिक होना है, तुझ पर अविश्वास करना है, तुझे भुलाना है, तेरा द्रोही होना है । अतः हे मेरे परमप्यारे, कल्याणस्वरूप स्वामी ! आज से मैं मन की दुर्बलता छोड़कर अभय रहने का व्रत लेता हूँ । मैं अपनी शक्तिभर किसी भी भय के अधीन न होऊँगा ।

हे मेरे जगदीश्वर! इसमें मेरी सहायता करो। भय न छोड़ कर तो मैं संसार में कुछ भी नहीं कर सकता, सत्यपथ पर नहीं चल सकता, कभी भी तेरे दर्शन नहीं पा सकता। अतः, हे प्रभो! मुझे ऐसा बल दो कि संसार में किसी भी मनुष्य से मुझे भय न हो; न मित्र से भय हो, न अमित्र से। सत्य-पथ पर चलते हुवे मुझे न मित्रों की नाराज़गी आदि का भय हो और न अमित्रों द्वारा क्लेश पाने का। तेरे सामने मित्र अमित्र सब एक हैं। तेरे सामने मित्रों के अमित्र हो जाने से क्या डरना और अमित्रों द्वारा जो तू ही मुझ पर विपत् लाता है उससे क्या घबराना! अनिष्ट तो तू मित्र और अमित्र दोनों द्वारा ला सकता है और लाता है। अतः इन दोनों ही द्वारा मुझे इस भय से बचा अर्थात् मुझे ऐसा बल दे कि मेरे लिये अनिष्ट ही कोई वस्तु न रहे। हे कल्याणमय प्रभो! संसार में अनिष्ट है ही क्या? तुझे भूल जाने और अतएव कल्पना का भय, क्लेश अनिष्ट बना लेने के सिवा सचमुच संसार में कोई भय या अनिष्ट नहीं है। जो कुछ है और जो कुछ होगा, वह सब निस्सन्देह शुभ ही है। मेरा निर्बल मन बहुत से घटित, ज्ञात, परिचित बातों को अनिष्टकर मान कर उनसे तो भयत्रस्त होता ही है, पर वह आगे आने वाली बातों में सदा अनिष्ट की आशंका करके भी वह यूँही भय-पीड़ित बना रहता है। "आगे न-जाने क्या होगा," "मेरे इस कर्म की सिद्धि होगी कि नहीं," "कहीं इसका फल, परि-णाम बुरा न निकले," इस प्रकार का जो मुझमें भय रहता है वह तो बड़ा ही आत्मघातक है। अतः, हे मेरे अन्तर्यामी! मुझ में अब ऐसा ज्ञान प्रदीप्त कर दो कि मेरे सब मोह हट जाँय

और मैं तेरे कल्याणस्वरूप को सदा देदीप्यमान देखता हुवा दिन में या रात में, सदा सब कालों में, सब अवस्थाओं में अभय रहूँ। ऐसा बल दो कि अंधकार हो या प्रकाश, विपत् हो या संपत्, अनुकूलतायें हों या प्रतिकूलतायें मैं इन सब दिशाओं में सदा निर्भय रह सकूँ। संसार भर में, चारों दिशाओं में, किसी भी स्थान पर अब कोई वस्तु मुझे भय व संकट दे सकने वाली न रहे सब जगह मित्रता ही मित्रता हो, कल्याण ही कल्याण हो, अभय ही अभय हो।

शब्दार्थ—

(मित्रात् अभयं, अमित्रात् अभयं) मुझे मित्र से भय न हो, अमित्र से भी भय न रहे। (ज्ञातात् अभयं) जो मालूम हो गया है उससे भय न हो, और (यः पुरः अभयं) जो आगे है; आनेवाला है उससे भी भय न हो। (नः नक्तं अभयं, दिवा अभयं) हमें रात में भी अभय हो, दिन में भी अभय हो (सर्वा आशाः) सब दिशायें सब दिशाओं के वासी प्राणी (मम मित्रं भवन्तु) मेरे मित्र हो जायँ, मेरे मित्र रूप रहें।

* *
*

१५ आषाढ़

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदः, तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं, तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
अथर्व० १९.४१.१॥

विनय

हे राष्ट्रीय भाइयो! क्या तुम जानते हो कि यह राष्ट्र कैसे उत्पन्न हुवा है? हम वैयक्तिक पुरुषों के समूहात्मक इस राष्ट्र-पुरुष का कैसे जन्म हुआ? यह हमारे पूर्व ऋषियों के 'तप' (पिता) और 'दीक्षा' (माता) का पुत्र है। प्रारम्भ में उन सत्यदर्शी ऋषियों ने, जिन्हें स्वयं आत्मसुख प्राप्त था, जो आप्तकाम थे अतएव जिन्हें अपना कुछ भी स्वार्थ न था और इसलिये जो केवल लोक-कल्याण के लिये जी रहे थे, भद्र के लिये (लोक-कल्याण के लिये) तप का अनुष्ठान किया।

उन्होंने देखा कि सर्वलोकहित के लिये यह आवश्यक है कि वैयक्तिक शक्ति (बल व ओज) से ऊपर एक ऊँची बड़ी उत्कृष्ट शक्ति (बल और ओज) व्यक्तियों के सामने होवे। अतः उन्होंने अपनी इस भद्र-कामना का विस्तार किया; सब मनुष्य एक दूसरे का भला चाहें, मनुष्यों में एक सामुदायिक भले की भावना उत्पन्न हो, इसका उन्होंने घोर यत्न किया। चूँकि मनुष्यों के क्षुद्रस्वार्थ इस उच्च भावना के विरोधी हैं, अतएव उन ऋषियों को मनुष्यों में इस भावना के जमाने में बड़े कष्ट सहने पड़े, बड़ी बड़ी तपस्यायें करनी पड़ीं। परन्तु वे दृढ़-संकल्प ऋषि तो व्रत ग्रहण किये हुवे थे, दीक्षित थे, इसी प्रयोजन के लिये ही मानों जन्मे थे, अतः उन्होंने अपना व्रत पूर्ण किया और इस भावना को उत्पन्न कर दिया। सब व्यक्तियों में उत्पन्न हुई इस भावना की मूर्ति ही राष्ट्र है। इस प्रकार, हे राष्ट्रीय भाइयो ! यह हमारा राष्ट्र उत्पन्न हुवा है और इस राष्ट्र-पुरुष का वह अभीष्ट बल और ओज भी प्रकट हो गया है जिससे कि सब राष्ट्र का कार्य चलता है। अतः हे देवो ! ऋषियों की तपस्याओं से उत्पन्न हुवे इस बलवान् तेजस्वी राष्ट्र-देव के सामने तुम भी झुको। यह राष्ट्रात्मा महादेवता देवों का भी वन्दनीय है। राष्ट्र का एक व्यक्ति बड़े से बड़ा, विद्वान् से विद्वान् , महात्मा से महात्मा, देव से देव, होता हुवा भी राष्ट्र का एक व्यक्ति—उस संघात्मक राष्ट्र के सामने तुच्छ है। हे राष्ट्र के व्यक्ति देवो ! तुम इस राष्ट्र-देव की वन्दना करो। तुम्हारी सर्व कल्याण की दिव्य भावना से ही, तुम्हारे इस देवत्व से ही, यह महान् देव उत्पन्न हुवा है। अतएव अपने राष्ट्र को देव समझनेवाले हे प्रजाजनो ! तुम

भी देव हो। तुम इस तरह तपस्या से उत्पन्न हुवे इस अपने बलवान्, तेजस्वी, परम प्यारे महान् देव के सामने झुको, अपनी वैयक्तिक इच्छाओं को इस राष्ट्रदेव के आगे सदा समर्पित किये रखो। इसकी आज्ञा व आदेश को अवनतशिर होकर प्रेम व आदरपूर्वक, पूरे हृदय से सदा पालन करो। अपनी सम्मतियों को, अपने तुच्छ लाभों को, अपने शारीरिक मानसिक या रुपये पैसे के स्वार्थों को तथा अपनी बड़ी से बड़ी, प्यारी से प्यारी, कामनाओं को भी राष्ट्रीयहित के सामने तुरन्त झुका देने के लिये तैयार रहो। यही राष्ट्र-देव की वंदना है, उसका उपसंनमन है। इस प्रकार अपने इस राष्ट्र के लिये सम्यक् प्रकार से नमन करने से हम सब का (हम सभी का) भद्र होगा, भला ही भला होगा।

शब्दार्थ—

(स्वर्विदः) आत्मसुख प्राप्त किये हुवे (ऋषयः) ऋषियों ने (भद्रं इच्छन्तः) लोक-कल्याण की इच्छा करते हुवे (अग्रे) प्रारम्भ में (तपः उपनिषेदुः) तप का अनुष्ठान किया और (दीक्षां उपनिषेदुः) दीक्षा को ग्रहण किया। (ततः) उस तप और दीक्षा से (राष्ट्रं जातं) राष्ट्र उत्पन्न हुआ (बलं ओजश्च जातं) तथा राष्ट्रीय बल और ओज भी उत्पन्न हुवा (तत्) इसलिये (अस्मै) इस राष्ट्र के सामने (देवाः) देव भी (उपसंनमन्तु) ठीक प्रकार झुकें, सत्कार करें।

❀ ❀
❀

१६ आषाढ़

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्माः,अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः ।
दीर्घं न आयुःप्रतिबुध्यमानाः, वयं तुभ्यं बलिहृतःस्याम ॥

अथर्व १२.१.६२॥

विनय

हे भूमिमातः ! हम तेरे पुत्र हैं, तुझसे उत्पन्न हुवे हैं। यह पार्थिवदेह हमें तेरे रजःकणों से मिली है। हे मातः ! हमें अपनी गोद में बिठलाओ। तेरी आनन्दमयी गोद में बैठ कर हम सम्पूर्ण मातृसुख को प्राप्त करें, तेरे दुग्धामृत का पान भी करें। तू हमें केवल सुखमय आश्रय-स्थानों को ही नहीं प्रदान करती किन्तु अपने उन सर्व स्थानों में तू हमें हमारे उपयोगी भोग्य-पदार्थों को भी देती है। तेरी ऐसी गोद में हमारा आश्रय पाना, हमारे लिये रोगरहित, निरन्तर निर्बाधपुष्टि, (उन्नति)

का देनेवाला हो। हे विस्तृत मातृभूमे! तेरे आश्रय में रहते हुवे हमें जो तेरे अन्न, फल, औषध, जल, वायु, धन, पशु, मान, रक्षा, विद्या, सुख आदि मिलते हैं वे हमें ऐसे शुद्ध और उचित रूप में मिलते रहें कि ये हमारे रोगों, भयों और दुःखों को हटाकर हमारी स्वास्थ्यकर पुष्टि को ही करते जाँय; हमारी शारीरिक, मानसिक और आत्मिक उन्नति ही साधते जाँय। यह तेरा सब भोग्य-पदार्थरूपी पुष्टिकारक दूध, हे मातः! हम तेरे बच्चों के लिये ही है—हम बच्चों की रोगभयरहित पुष्टि के लिये ही है। हमारी शारीरिक-उन्नति ऐसी अक्षुण्ण होवे कि हम पूर्ण दीर्घ आयु को भोगें। हमारी मानसिक व आत्मिक-उन्नति भी ऐसी अक्षुण्ण होवे कि हम क्रमशः 'प्रतिबुध्यमान' होते जायँ, उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान और बोध से (आत्म-जागृति से) युक्त होते जायँ। एवं हम अबोध बालकों का ज्यों ज्यों ज्ञान बढ़ेगा, हम सब प्रकार के ज्ञानों में उन्नत होंगे, त्यों त्यों, हे मातः! हम तेरे अपने पर किये गये अपार उपकारों को भी—तेरे मातृत्व को भी—हम अधिक अनुभव करने लगेंगे तथा तेरे प्रति अपने कर्त्तव्यों के लिये भी जागृत हो जायँगे। अतः तब हम राष्ट्र-कर के इस तुच्छ धन की बलि, किसी भय से नहीं किन्तु 'प्रतिबुध्यमान' होते हुवे, जानते हुवे, इसे कर्तव्य समझते हुवे—प्रेम से तुम्हारे प्रति दिया करेंगे। केवल यह तुच्छ, साधारण, नित्यप्रति की बलि ही नहीं, किन्तु हे मातः! हममें तेरे प्रति कर्तव्य का बोध ऐसा जागृत हो जाय कि हम तेरे लिये सब कुछ बलिदान करने को सदा उद्यत रहें। तुझसे मिला हुवा यह शरीर, यह आयु, यह प्राण, यह पुष्टि, यह धन, यह सब कुछ और किस काम के लिये है? यदि

ये तेरी वस्तुएं आवश्यकता पड़ने पर तेरे लिये समर्पित न हो सकें—तेरे दूध को चुकाने का समय आने पर भी यदि हम इन्हें भेंट चढ़ाने से हिचकें—तो ऐसे धन, ज्ञान और जीवन को धिक्कार है, इन पापमय वस्तुओं का भूमि पर रहना व्यर्थ है। नहीं, हम तेरे पुत्र इतने ज्ञानी होंगे कि तेरे लिये अपने सर्वस्व को बलि चढ़ा देने को सदा उद्यत रहेंगे।

शब्दार्थ—

(पृथिवि) हे भूमे! हम (ते प्रसूताः) तुझसे उत्पन्न, तेरे पुत्र हैं, अतएव (उपस्थाः) तेरी गोद, तेरे आश्रय-स्थानों के सब पदार्थ (अस्मभ्यं) हमारे लिये हों और (अनमीवाः अयक्ष्माः सन्तु) आरोग्यवर्धक व रोगनाशक होवें (नः दीर्घं आयुः) हमारी आयु दीर्घ होवे (वयं) हम (प्रतिबुध्यमानाः) जागते हुवे ज्ञानसम्पन्न होते हुवे (तुभ्यं) तेरे लिये (बलिहृतः) अपनी बलि देनेवाले (स्याम) होवें।

*

* *

१७ आषाढ़

यद्चरस्तन्वा वावृधानो, बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु ।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुः,नाद्य शत्रुं न नु पुरा विवित्से ॥
ऋ० १०.५४.२॥

विनय

हे इन्द्र परमेश्वर ! जो हम वेदों में भी युद्ध वर्णन पाते हैं कि इन्द्र ने वृत्र को मारा, इन्द्र ने अपने वज्र से अमुक अमुक असुरों का संहार किया, इन्द्र सोम को पीकर मस्त होकर बड़े बड़े पराक्रम के कार्य करता है, इन्द्र हवि को खाता है और हवि देनेवाले को धन देता है ; तो ये सब वर्णन आलंकारिक हैं । स्थूल जगत् में रहनेवाले, स्थूल बुद्धिवाले हम मनुष्यों के हृदयों पर उसी वर्णन का प्रभाव होता है जो कि हमारे जैसा वर्णन हो, अतएव तुम्हारे शरीर का वर्णन किया जाता है, तुम्हारे युद्धों का वर्णन किया जाता है । हम माया में रहने वालों को माया रूप से ही किया गया तुम्हारा वर्णन समझने योग्य होता है । असल में न तुम्हारा कोई शरीर है न कोई भौतिक वज्र है । तुम्हारा शत्रु त्रिकाल में भी कौन हो सकता है ? तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारी माया, सब कुछ अपने अटल

नियमों से चला रही है। पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख स्वभावतः हो रहा है। तुम न किसी के शत्रु हो, न मित्र हो। तुम्हारी असली शक्ति की हम कल्पना तक नहीं कर सकते, वह तो अविज्ञेय है। हम तो इतना ही देख सकते हैं कि जगत् में जो कुछ हरकत हो रही है, जो परिवर्तन हो रहे हैं, वे सब नाना प्रकार की शक्तियाँ हैं जो कि तुम्हारी ही एकमात्र शक्ति के एक अंश हैं। स्थूल रूप में सब शक्ति सफलता व विजय के रूप में दीखती हैं, अतः संसार की भाषा में तेरी अनंत शक्ति का टूटा-फूटा वर्णन हम लोग इसी युद्ध के ढंग से किया करते हैं। तेरी अवर्णनीय शक्तियों का, बलों का ख्यापन हम मनुष्यों द्वारा और दूसरे किस तरह किया जाय ?

पर साथ ही यह भी ठीक है कि हमारे ये सब वर्णन माया हैं, अधूरे हैं, यह अवर्णनीयों का वर्णन है; यह अज्ञेय का काम-चलाऊ ज्ञान कराना है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे इन्द्र ! (यत् तन्वा वावृधानः) जो तू शरीर के साथ बढ़ता हुवा (अचरः) विचरा है (जनेषु बलानि प्रब्रुवाणः) मानों मनुष्यों में अपने बलों को ख्यापित करता हुवा विचरता है (यानि युद्धानि आहुः) या जो यह वर्णन है कि तूने युद्ध किये हैं, (सा ते माया इत्) यह सब तेरी माया ही है। (न अद्य शत्रुं) असल में तो न तेरा कोई आज शत्रु है (न पुरा विवित्से) और न कभी पहिले तूने अपना कोई शत्रु जाना है।

*

* *

१८ आषाढ़

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्यानाः, दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधानाः, यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त॥

ऋ० १०.६७.२॥ अथर्व २०.९१.२॥

विनय

'यज्ञ यज्ञ' सब कहते हैं, पर यज्ञ के मूलतत्व को जानने वाले कोई विरले ही होते हैं। हम तो इतना जानते हैं कि जगत्-हित के लिये स्वार्थत्याग के कार्य करना यज्ञ है। इतना ठीक भी है। पर यज्ञ के प्रथम रूप से हम बहुत दूर हैं। यदि हमें कहीं वह रूप दीख जाय तब तो हम देख लेवें कि यज्ञ ही हमारा प्राण है, हमारा जीवन है; यज्ञ तो हमारे एक एक श्वास में होना चाहिये। इस यज्ञ के 'प्रथम धाम' (मुख्यस्थान) को जो साक्षात् देख लेते हैं वे 'अंगिरस्' कहाते हैं; क्योंकि ऐसे लोग इस जगत्-शरीर के अंगों के रस होते हैं। ये वे महात्मा पुरुष होते हैं जो कि संसार को ठीक रास्ते पर ले जाते हुवे संसार के प्राणरूप होते हैं। संसार में जो पाप, अधर्म, स्वार्थ की शक्तियाँ प्रवृत्त हो रही हैं उनसे संसार का जीवन-रस सूख जाय यदि ये 'अंगिरस्' उसमें निरन्तर धर्मधारा न बहाते रहें। इन अंगिरसों को बार बार प्रणाम है।

पर हमें तो यह जानना चाहिये कि ये 'अंगिरस्' महात्मा कैसे बनते हैं ? इनके लक्षण क्या हैं ? इनके चार लक्षण हैं। (१) ये सत्य ही बोलते हैं, ये सत्य का ही वर्णन करते हैं। (२) केवल वाणी में ही सत्य नहीं होता किन्तु इनके ध्यान व विचार में भी कुटिलता नहीं आने पाती; इनके विचार में—मन में—भी असत्यता नहीं आती (अतएव) इनकी बुद्धि इतनी सच्ची और प्रकाशपूर्ण होती है कि इन्हें समष्टि-बुद्धिरूप जो 'द्यौ' है उसके पुत्र कहना चाहिये और ये वीर-पुत्र होते हैं क्योंकि संसार में सदा अज्ञान-शत्रु पर विजय पाने के लिये अग्रसर रहते हैं (४) और ये 'द्यौ के पुत्र' अपने में 'विप्रपद' को, ज्ञानमय व्यापक पद को धारण किये होते हैं—भगवान् को, भगवान् के एक ज्ञानमय व्यापक रूप को, अपने में धारण किये फिरते हैं।

हे यज्ञकर्मों द्वारा ऊँचे चढ़ने की इच्छा रखनेवाले और यत्न करनेवाले भाइयो ! अंगिरसों के इन चार लक्षणों को अपने में रमाते चलो, रमाते हुवे चढ़ते चलो।

शब्दार्थ—

(ऋतं शंसन्तः) सत्य ही कहनेवाले, (ऋजु दीध्यानाः) अकुटिल ध्यान करनेवाले, (असुरस्य) प्रज्ञावाले (दिवः) दिव के, 'द्यौ' के (वीराः पुत्रासः) वीर पुत्र, (विप्रं पदं दधानाः) और जो ज्ञानमय या व्यापक पद को धारण किये हुवे हैं ऐसे (अंगिरसः) अंगिरस लोग (यज्ञस्य प्रथमं धाम) यज्ञ के परम मुख्य स्थान को (मनन्त) जानते हैं।

* *
*

१६ आषाढ़

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं, हवे हवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं, स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः ॥
ऋ० ६.४७.११॥ य. २०.५०॥सा०पू०४.१.५. २॥ अ० ७.८६.१॥

विनय

यह संसार एक रणस्थली है। इसमें हरेक मनुष्य अपनी समझ के अनुसार किसी न किसी विजय पाने में लगा रहता है और उसके लिये दिन-रात संघर्ष में लग जाता है। यद्यपि इन संघर्षों में विजय पाने के लिये मनुष्य प्रायः अपने शरीर-बल, बुद्धि-बल, संगठन-बल, विज्ञान-बल, मित्र-बल, सैन्य-बल आदि बलों का प्रयोग करता हुवा अभिमान से समझता है कि मैं इन बलों द्वारा ये सब लड़ाइयाँ जीत लूँगा, परन्तु एक समय आता है जब कि मनुष्य इन सब बाह्य-बलों से हारकर, निराश होकर, संसार की किसी अज्ञात शक्ति को ढूँढने व पुकारने लगता है। 'हे राम' 'या अल्लाह' या 'O my God' आदि कह कर किसी न किसी नाम से, हे इन्द्र ! असल में वह तुझे पुकार उठता है। तब पता लगता है कि, हे संसार की अज्ञात अदृश्य शक्ति ! तू ही एकमात्र शक्ति है। संसार के शेष सब बल तेरे ही आधार से बल हैं। जब तू चाहता है तब वे बल होते हैं, तेरी जब इच्छा नहीं होती तब किसी भी बल में शक्ति नहीं रहती। इसलिये, हे इन्द्र ! तू ही मेरा सच्चा पालक है और

तू ही एकमात्र सब आपत्तियों से मेरा रक्षक है। तुझ ही महापराक्रमी को हर संग्राम में पुकारना चाहिये। तेरा ही पुकारना शोभन है, सुफलदायक है। और किसी को पुकारना निष्फल है, बेकार है। पुकारा हुवा तू भक्तजनों के संकट एक क्षण में दूर कर देता है। तू सर्वशक्तिमान् है। अतएव तू 'पुरूहूत' है, सदा से जब से सृष्टि चली है सन्त लोग तुझे आड़े समय में पुकारते रहे हैं, याद करते रहे हैं। हे शक्र! तुझे छोड़कर मनुष्य और किसे पुकारे? इसलिये, हे इन्द्र! मैं भी तेरी पुकार मचा रहा हूँ। मघवन्! तू मेरे लिये कल्याण-कारी होता हुआ मेरी पुकार सुन। मैं निश्चय से जानता हूँ कि मैं तेरा पवित्र नाम लेता हुवा अपने इस जीवन की सब लड़ाइयों में विजय पाता चला जाऊँगा। मुझे किसी युद्ध में किसी भी अन्य हथियार की जरूरत नहीं। बस, तू मेरी वाणी पर रहे, यही चाहिये। तेरा नाम पुकारना मुझे सब विपत्तियों से पार कर देगा।

शब्दार्थ—

(त्रातारं इन्द्रं) पालन करनेवाले इन्द्र को, (अवितारं इन्द्रं) रक्षा करनेवाले इन्द्र को (हवे हवे सुहवं) एक एक संग्राम में सुख से पुकारने योग्य (शूरं इन्द्रं) पराक्रमी इन्द्र को और (शक्रं इन्द्रं) उस सर्वशक्तिमान् इन्द्र को (पुरूहूतं इन्द्रं) जिसे कि असंख्यों सत् पुरुषों ने समय समय पर पुकारा है—उस इन्द्र को मैं भी (ह्वयामि) पुकारता हूँ, बुलाता हूँ। (मघवा इन्द्रः) वह ऐश्वर्यवान् इन्द्र (नःस्वस्तिः धातु) हमारा कल्याण करे।

* *
*

२० आषाढ़

न विजानामि यदि वेदमस्मि, निण्यः सन्नद्धो मनसा चरामि।
यदामागन्प्रथमजा ऋतस्य, आदित् वाचो अश्नुवे भागमस्याः॥

ऋ० १.१६४.३६॥ अथर्व० ९.१०.१५॥

विनय

मैं क्या कहूँ ? क्या मैं यह शरीर हूँ ? इसमें चेतना कहाँ से आई है ? मैं क्या वास्तव में अमर हूँ ? यह कुछ समझ में नहीं आता । या क्या मैं बिल्कुल परिस्थितियों का गुलाम हूँ ? इन परिमितता के बंधनों से क्या मैं कभी छूट सकता हूँ ? यह संसार किसलिये है ? किधर जारहा है ? मेरा इससे क्या संबन्ध है ? कुछ नहीं समझ पाता । हमारे दर्शनों में कोई कुछ कहता है और कोई कुछ । उधर पश्चिम के दार्शनिक और वैज्ञानिक कुछ कुछ कहते हैं । मैं सब तरफ़ से बँधा हुवा अपने को अनुभव करता हूँ, संशयों से दबा हुवा इधर उधर भटकता फिरता हूँ; पर ज्ञान-तृप्ति कहीं नहीं होती है । कहते हैं कि जब 'ऋतंभरा प्रज्ञा' का उदय हो जाता है तब कोई संशय नहीं रहता । उसके प्रकाश में प्रत्येक वस्तु

बिल्कुल यथावत् दिखाई देती है, वहाँ संशय और भ्रम हो ही नहीं सकता। वह यौगिक प्रत्यक्ष है,[1] उससे हरेक तत्त्व का साक्षात्कार, प्रत्यक्ष हो जाता है। ओह ! यदि वह 'ऋतंभरा प्रज्ञा'[2] मुझे प्राप्त हो जाय तो संसार की वाणियाँ, वेद-शास्त्र, दर्शन (Philosophies) विज्ञान (Science) जो कुछ कहते हैं, उस सब का मतलब हल हो जाय। ये भिन्न भिन्न वाणियाँ सब नव्य और पुरातन ग्रन्थ जो कुछ कहते हैं, उनकी प्रतिपादित वस्तु मिल जाय। फिर ये परस्पर विरुद्ध दीखने वाले शास्त्रवचन मुझे बहका न सकेंगे। बस, वह ऋतंभरा-प्रज्ञा वही चाहिये और कुछ नहीं चाहिये। वही मेरे इस भयंकर संनिपात रोग का एकमात्र इलाज है। मुझे उसके बिना अब किसी सांसारिक ज्ञान से चैन नहीं मिल सकता। आह ! ऋतंभराप्रज्ञा ! ऋतंभराप्रज्ञा !! उसी के लिये मेरे सारे यत्न।

शब्दार्थ—

(यदि वा इदमस्मि) मैं यह हूँ या नहीं, क्या हूँ, (न विजानामि) यह कुछ जान नहीं पाता, (निण्यः) दवा हुवा, (सन्नद्धः) पूरी तरह बँधा हुआ (मनसा चरामि) संशयित मन से फिरता हूँ। (यदा) यदि (मा) मुझे (ऋतस्य प्रथमजाः) सत्यस्वरूप की प्रथमोत्पन्ना बुद्धि (आगन्) प्राप्त हो जाय (आत् इत्) तो मैं (अस्याः वाचः भागं) वाणी मात्र के प्रतिपाद्य विषय को (अश्नुवे) पा जाऊँ।

१—"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा" "श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्"। योग-दर्शन १।४७–४८।

२— ऋतं सत्यमेव बिभर्तीति ऋतम्भरा।

२६ आषाढ़

उद्यानं ते पुरुष नावयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथं, अथ जिर्वि र्विदथमावदासि॥
अथर्व० ८.१.६॥

विनय

हे पुरुष ! तू इस सृष्टि में मुरझाया हुवा, गिरी हुई तबीअत से क्यों रहता है ? तू उठ। तुझे तो दिनों दिन उन्नत होना चाहिये। तू अपने आप को विकसित करने के लिये ही संसार में आया है। तुझे जीवन द्वारा आत्मा की शक्तियों का प्रकाश करना है। तेरे जीवन को, प्राण को, बल से संयुक्त करता हूँ। तेरे प्राण में महाबल भरा हुवा है, इस बल को पाकर लगातार तेरा उत्थान, उन्नति होती जावे। अपने आपको पतित करने का, या हिम्मत हारने का क्या काम है ? इस बल को तू जगाता जावेगा तो तेरा 'जीवातु' (जीवन) एक उत्तरोत्तर आनन्ददायक यात्रा हो जायगी। अतः तू इस 'दक्ष' से युक्त होकर अब इस शरीररूपी रथ पर सवार हो जा। अभी तक तू इस पर सवार नहीं था किन्तु शायद यह शरीर तुझ पर सवार रहा है। उठ, इस शरीर का तू अधिष्ठाता है यह रथ तेरा है। इसे अपने अधीन रख कर चला तो पता लगेगा कि यह रथ कितना सुख से चलनेवाला है। तब शरीर के क्लेश, रोग आदि का तुझ पर प्रभाव न हो सकेगा। बल्कि तेरे प्रभाव से यह शरीर रोगादि से रहित स्वस्थ्य हो जायगा। यही नहीं, किन्तु यदि तू इस रथ का पूरा सवार,

रथी, अधिष्ठाता हो जायगा तो तू चाहे तो तेरा अमर आत्मा उस प्राण-बल द्वारा इस रथ को अमृत भी बना सकता है; सब अणिमादि सिद्धियाँ और 'काय-संपत्' इसमें प्रकट हो सकती हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तू उठ! इस सुखमय अमृत रथ पर चढ़ जा और इस द्वारा उत्तरोत्तर आत्म-विकास को करता हुवा उन्नत उन्नत होता जा। इस बल को पा लेने के बाद, इस रथ पर चढ़ जाने के बाद, कभी 'क्रमिक ह्रास' का नियम नहीं लग सकता है। वह प्राण-बल तुझमें दिनोंदिन बढ़ता ही जावेगा। स्वभावतः वृद्धावस्था के आने पर भी तेरी शक्ति में ह्रास नहीं आना चाहिये। उत्तरोत्तर बढ़ता हुवा प्राण-बल तो वृद्धावस्था में पूर्ण विकसित हो जाता है, 'वसु' और 'रुद्र' अवस्था से उठकर उस समय प्राण 'आदित्य' रूप हो जाते हैं। जैसे प्राण-भंडार आदित्य सब जगह अपनी किरणों को फैलाता है, उसी तरह वृद्धावस्था में तू अक्षीणशक्ति होकर अपने विशाल अनुभव-ज्ञान को सब मनुष्य-समाज के लिये प्रदान करता रह।

शब्दार्थ—

(पुरुष) हे जीव! (ते उद् यानं) तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो; (न अवयानं) नीचे पतन कभी नहीं। (ते जीवातुं) तेरे जीवन को (दक्षतातिं) बल से युक्त (कृणोमि) करता हूँ। (इमं) इस विद्यमान (अमृतं) अमृत युक्त (सुखं) सुखकारी (रथं) रथ पर (हि) निश्चय से (आरोह) तू चढ़ जा। (अथ) फिर (जिर्विः) जीर्ण होकर, बुढ़ापे में भी (विदथं) ज्ञान का (आवदासि) प्रचार करता रह।

नोट—'जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि' ये शब्द मुझे परमात्मा कह रहे हैं और उन्होंने मेरे शरीर में दक्ष (बल) का संचार कर दिया है ऐसा अनुभव कीजिये।

२२ आषाढ़

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी,उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

अथर्व० १२.१.१॥

विनय

हे प्रभो ! जिस भूमि पर हम रहते हैं वह भूमि हमें उन्नत करे, हमें विशाल बनावे। हम इसे धारण करने का पूरा यत्न कर रहे हैं। जब कभी हम मोहवश यह समझ लेते हैं कि कूटनीति अर्थात् झूठ, कपट, चालाकी आदि से अपने देश, राष्ट्र व मातृभूमि की धारणा होगी तब हम भूले होते हैं। पृथिवी को धारण करनेवाले जो आवश्यक गुण हैं उनमें तो सब से पहिला सत्य है। वह महान् सत्य जिससे विश्व-ब्रह्माण्ड स्थित है, हमारी भूमि को भी वह ही धारण किये हुवे है।

और केवल सत्य-ज्ञान ही नहीं, किन्तु उसका आचरण राष्ट्र को स्थिर रखता है। हमें कठोरता के साथ, तेजस्विता के साथ, पूरा पूरा सत्याचरण करना चाहिये। हममें जितना सत्य होगा, जितनी उग्र सत्यचर्या होगी, जितना हम दृढ़ संकल्प होकर ग्रहण किये व्रतों को निबाहनेवाले होंगे, जितने हम राष्ट्र के लिये कष्ट सह सकेंगे, जितना हमें अनुभूत-ज्ञान होगा और जितना हम निस्स्वार्थ होकर परोपकार वृत्तिवाले होंगे, उतना ही यह हमारा देश अचलतया स्थित रहेगा। भूमि को कोई राजा, शासन या प्रजा नहीं धारण करते, किन्तु वहाँ के वासियों में स्थित ये छः गुण ही एकमात्र भूमि के धारण करनेवाले होते हैं। यह जानकर इन गुणों का हम अपने में लाने का पूरा यत्न करते हुवे ही यह प्रार्थना करते हैं कि हमारी प्यारी मातृभूमि हमें विस्तृत और विशाल बनावे। हम इन गुणों की साधना द्वारा अपनी मातृभूमि को धारण करें और यह भूमि हमारे भूत और भव्य की रक्षा करनेवाली होकर हमें उन्नत करे। हम अपने भूत के आधार पर ही भविष्य में उन्नत हो सकते हैं और जितना ही हम अपने राष्ट्र के साथ एक होंगे, तादात्म्य करेंगे, उतना दूर तक हम अपने राष्ट्र के भूत में प्रविष्ट होंगे और उतना ही अपने भविष्य को उज्ज्वल और महान् बना सकेंगे। इस तरह मातृभूमि की हमारी उपासना हमें सुविशाल कर देवे। राष्ट्र का व्यक्ति मातृभूमि के जीवन और मरण के साथ ही जीता या मरता है। मातृ-भूमि की अनन्यभाव से उपासना मनुष्य को इतनी विस्तृत आयु (जीवन) प्रदान कर देती है! तब मनुष्य क्षुद्र बातों से कितना ऊँचा हो जाता है! आओ, हम आज से उन सत्य आदि

महान् [बृहत्] गुणों को अपने में धारण करते हुवे अपनी मातृभूमि की सच्ची पूजा किया करें जिससे यह भगवती मातृ-भूमि हमारे भूत के दृढ़ चट्टान पर हमारे उज्ज्वल भव्य की रचना को सुरक्षित करती हुई हमारे लिये उतने विशाल क्षेत्र को खोल देवे—उस भूत और भव्य को व्याप्त कर लेनेवाले विस्तृत लोक को हमारा बना देवे ।

शब्दार्थ—

(बृहत् सत्यं) महान् सत्य (उग्रं ऋतं) कठोर सत्याचरण (दीक्षा) व्रतग्रहण (तपः) कष्टसहन (ब्रह्म) अनुभव-ज्ञान (यज्ञः) निस्स्वार्थ कर्म ये (पृथिवीं धारयन्ति) पृथिवी को धारण कर रहे हैं। (भूतस्य भव्यस्य पत्नी) भूत और भव्य की रक्षा करनेवाली (सा नः पृथिवी) वह हमारी मातृभूमि (नः) हमारे लिये (उरुं लोकं) विस्तृत लोक को, विशाल क्षेत्र को (कृणोतु) करे ।

* *
*

२३ आषाढ़

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्,प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां, तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।
यजु० ३४. ५ ॥

विनय

हे प्रभो ! मेरे चित्त का मैल अभी तक नहीं निकलता। स्वार्थ-कामना, राग-द्वेष, मोह आदि मलिनता इसमें सूक्ष्मता से ऐसी चिमटी हुई हैं कि इस सूक्ष्म मैल के कारण मेरे बिना जाने भी इसमें अशुभ संकल्प पैदा हो जाते हैं। हे नाथ ! मेरे मन को इतना मज़बूत कर दो कि कम से कम इसमें अशुभ राग-द्वेषात्मक संकल्प तो न उठें, 'उदार' रूप में न आवें। मुझे तो इस मन से परम पुरुषार्थ साधना है, सत्यज्ञान को प्राप्त कर लेना है। पर यह मन अभी इतना भी शुद्ध और बल-

वान् नहीं हुवा है कि सदा शिवसंकल्पवाला बना रहे। मन में तो सब वेदज्ञान भी मौजूद है। ऋक्, यजु, साम, तीनों प्रकार का वेदज्ञान मन के ही आश्रित है। मैं देख रहा हूँ कि जैसे कि रथनाभि में अरे लगे रहते हैं वैसे सब वेद मन में रखे हुवे हैं। हे परमेश्वर ! यह प्रलय में भी नष्ट न होनेवाला तुम्हारा अनन्त नित्य वेदज्ञान तुम्हारे सर्वव्यापक परमशुद्ध मनमें ही तो—'प्रकृष्ट चित्तसत्व' में ही तो—रहता है। और वहीं से यह वेद-ज्ञान ऋषियों ने अपने शुद्ध मनों में पाया है और वे मंत्रद्रष्टा ऋषि बने हैं। सचमुच वेद-ज्ञान पुस्तकों में नहीं है, यह मन में है। मैं जानता हूँ कि संपूर्ण वेदराशि, तीनों प्रकार का वेद-ज्ञान, मेरे भी मन में रखा हुवा है। मेरे भी मन के उच्च, पवित्र होने पर वे तीन अवस्थायें आ सकती हैं जिनमें कि ऋक्-ज्ञान, यजु-ज्ञान, और साम-ज्ञान स्वभावतः मुझ में प्रकाशित हो सकेंगे। सभी प्रजाओं के, सभी मनुष्यों के मन-स्तत्व में जहाँ उनका सब प्रकार का चित्त, उनके संस्कारों का महाकोष, उनका अनन्त वासनाजाल, सब योनियों की सब प्रकार की असंख्यात वासनायें मौजूद हैं, वहीं मन में सब सत्य-ज्ञान भी मौजूद हैं। पर यह सब जानते हुवे भी मैं लाचार हूँ। बल्कि मैं मन के इस अनन्तभण्डार को जानता हूँ इसी लिये छटपटा रहा हूँ। मुझे तो अपने मन में वेदज्ञान को प्रकाशित करना है, पर यह अभी कुसंस्कारों से भरा पड़ा है। मेरे मन को तो सत्य-संकल्प बनना है, पर यह अभी शिव-संकल्प भी नहीं बना है। हे अन्तर्यामी ! हे मेरे मन के स्वामी ! मुझ में तो इतनी शक्ति आ जानी चाहिये कि मैं जब जो संकल्प चाहूँ, वही—केवल वही—संकल्प मुझ में आवे और जितनी

देर तक चाहूँ, उतनी देर तक रहे। परन्तु वह अवस्था तो अभी दूर है। अभी तो मैं इतना ही माँगता हूँ कि, हे हृदय वासी! कृपा करके मेरे मन को ऐसा दृढ़ कर दो कि मुझमें चाहे कितने संकल्प उठें और जब जो संकल्प चाहे वही उठे, पर वे सब संकल्प शुभ ही शुभ हों; उनमें कोई अशिव न हों। मुझ में अकल्याणकारी संकल्प उठने तो अब बंद ही हो जायँ। मन की इतनी शुद्धि, इतनी प्रबलता तो प्रदान कर ही दो।

शब्दार्थ—

(यस्मिन्) जिस मनस्तत्व में (ऋचः साम) ऋक्-ज्ञान और साम-ज्ञान तथा (यस्मिन् यजूंषि) जिसमें सब यजु-ज्ञान भी (प्रतिष्ठिता) इस तरह स्थापित हैं (इव) जैसे कि (रथनाभौ अराः) रथनाभि में अरे लगे रहते हैं, जड़े रहते हैं और (यस्मिन्) जिस मनस्तत्व में (प्रजानां सर्वं चित्तं) प्रजामात्र का संपूर्ण चित्त, सब संस्कारों से चित्रित और सर्व वासना-जाल से युक्त चित्त (ओतं) ओत-प्रोत हुवा हुवा, पिरोया हुवा है (तत् मे मनः) वह मेरे अन्दर स्थित मन (शिवसंकल्पं अस्तु) सर्वथा शुभ ही संकल्प करनेवाला हो जाय।

* *
*

२४ आषाढ़

वृत्रस्य त्वा श्वसथात् इषमाणाः, विश्वे देवाः अजहुः ये सखायः।
मरुद्भिःइन्द्र सख्यं ते अस्तु, अथेमा विश्वाः पृतना जयासि॥

ऋ० ८.९६.७॥

विनय

हे मेरे आत्मा ! तेरे असली साथी तो प्राण ही हैं। जब तक प्राण तेरे साथी नहीं हो जाते तब तक अन्य देवों का साथ बेकार है, बल्कि समय पर धोखा देनेवाला है। मैं जब उत्तम ग्रन्थ पढ़ता हूँ, सन्तों की वाणी सुनता हूँ, पवित्र उपदेश श्रवण करता हूँ तब मन में बड़े दिव्य, उत्तम विचार उत्पन्न होते हैं; आन्तरिक मनन और भावन से मन की अवस्था ऐसी ऊँची हो जाती है कि हृदय में मानो देवसमाज लग जाता है। मैं अपने को बिलकुल निर्विकार, निष्काम, और पवित्र समझने लगता हूँ। परन्तु पाप-प्रलोभन के आते ही यह सब का सब उलट जाता है, वृत्रासुर के सन्मुख आने पर इस सब देव-समाज में भग्गी पड़ जाती है, उसकी फुँकार से सब दिव्य-विचार क्षण में उड़ जाते हैं, ज़रा सी देर में हृदय में महाबली वृत्रासुर का राज्य जम जाता है। उस समय मैं यह जानता हुवा भी कि मैं बुरा कर रहा हूँ, पाप कर रहा हूँ, पाप की तरफ़ खिंचा चला जाता हूँ। मनुष्य इस अवस्था से कैसे पार होवे ? इसका एक ही इलाज है कि मनुष्य प्राणों की समता प्राप्त करे। प्राणों का सम होना ही प्राणों का (मरुतों का)

आत्मा के साथ मैत्री होना है। आत्मा के साथ जुड़ने पर, आत्मा के समीप होने पर प्राण सम और शान्त हो जाते हैं। ये सम हुवे प्राण कार्य करने के बड़े प्रबल साधन बन जाते हैं। प्राण की सम अवस्था में जो विचार होते हैं, वे स्थिर और दृढ़ होते हैं, इस अवस्था में किये गये संकल्प बड़ा विस्तृत प्रभाव रखते हैं। आत्म-शक्ति जब प्राणों को आत्मगृहीत करके उन द्वारा प्रकट होती है तो उसके सामने कोई नहीं ठहर सकता, सब वासनायें दब जाती हैं, कोई भी पाप-विचार सिर ऊपर नहीं उठा सकता। बड़े बड़े प्रलोभन, पाप की बड़ी बड़ी फौजें आत्मा के एक संकल्प के द्वारा दब जाती हैं, समाप्त हो जाती हैं; आत्माग्नि की एक लपट में भस्म हो जाती हैं, जब कि वह आत्म-संकल्प सम हुवे, सखा बने हुवे प्राणों द्वारा प्रकट होता है, और जब कि आत्माग्नि प्राणमाध्यम द्वारा सहस्र-गुणित होकर जल उठती है। प्राणों की इस मैत्री को, दोस्ती को पाकर आत्मा क्या नहीं कर सकता? प्राण महाबली है। वह जब तक असम रहता है तब तक उसका बल वृत्रासुर के काम आता है, पर जब वह सम हो जाता है तो वह आत्मा का हो जाता है। आत्मा का सखा प्राण अजेय है।

शब्दार्थ—

(इन्द्र) हे आत्मन्! (विश्वे देवाः) सब देव, सब दिव्यभाव (ये सखायः) जो कि तेरे साथी बनते हैं (वृत्रस्य श्वसथात्) पापासुर के साँस से, फुंकार से, बलप्रदर्शन से (ईषमाणाः) डरकर भाग जाते हुवे (त्वां) तुझे (अजहुः) छोड़ देते हैं। हे इन्द्र! (ते सख्यं) तेरी मैत्री, तेरा साथ (मरुद्भिः) प्राणों के साथ (अस्तु) यदि होता है या होवे (अथ) तो तू (इमाः विश्वाः पृतनाः) पाप की इस सब बड़ी फौज़ को (जयासि) जीत लेता है।

२५ आषाढ़

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः, सत्यं ब्रवीमि बध इत् स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं, केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०.११७.६॥

विनय

संसार में धनी दीखनेवाले दुर्बुद्धि (पापबुद्धि) मनुष्यों के पास जो अन्न-भण्डार और नाना भोग-सामग्री दिखाई देती है, क्या वह भोग्य सामग्री है ? अरे, वह सब भोग-विलास का सामान तो उनकी 'मौत' है। वह भोग्य वस्तुयें नहीं हैं किन्तु उनको खा जानेवाले ये इतने उनके भोक्ता हैं, भक्षक हैं। भोग्य सामग्री का मनोहर रूप धरके आया हुवा उनका काल है, उन्हें खाजाने के लिये आया हुवा काल है। मनुष्यो ! तुम्हें इस विचित्र बात पर विश्वास नहीं होता होगा, किन्तु मैं

सच कहता हूँ, सच कहता हूँ और फिर सच कहता हू कि पापी दुर्बुद्धि पुरुष के पास एकत्रित हुवा सब सांसारिक-भोग का सामान उसकी मृत्यु का सामान है, केवल मृत्यु का ही सामान है; इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं है। क्योंकि वह पुरुष अपने इस धन, ऐश्वर्य द्वारा केवल अपने देह को ही पोषित करता है। न तो वह उस द्वारा अपने अन्य मनुष्य-भाइयों को पोषित करके अपने स्वाभाविक यज्ञ-धर्म को पालता है, न ही वह अर्यमादि देवों के लिये आहुति देकर आधिदैविक जगत् के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित रखता है। यदि वह आधिदैविक आदि जगत् को पोषित करता हुवा इसके यज्ञ-शेष से अपने को पोषित करे तब जो भोग-सामग्री उसके लिये अमृत हो सकती थी वही भोग-सामग्री उसकी 'मौत' बन जाती है। मनुष्यो! याद रखो कि अकेला भोगनेवाला, औरों को बिना खिलाये स्वयमेव अकेला भोगनेवाला मनुष्य, केवल पाप को ही भोगता है। जब कि चारों तरफ़ असंख्यों पुरुष एक समय भी भरपेट भोजन न पा सकनेवाले, भूखे-नंगे, झोंपड़ों में पड़े हों तो उनके बीच में जो हलुवा पूरी खाने वाला, महल में रहने वाला, पलंग पर सोनेवाला 'अप्रचेताः' पुरुष है उससे तुम क्या ईर्ष्या करते हो? तुम्हें बेशक वह मज़े में हलुवा पूरी खाता हुवा नज़र आता है, पर ज़रा सूक्ष्मता से देखो तो वह बिचारा तो केवल अपने पाप को भोग रहा होता है, वह केवल शुद्ध पाप का भागी होता है और इस अयज्ञ के भारी पाप-बोझ को वह अकेला ही उठाता है; इसमें उसका कोई और साक्षी नहीं होता। "केवलाघो भवति केवलादी" यह संसार का परम सत्य है। इसे कभी मत भूलो। (शरीर, मन और आत्मा

तीनों को पुष्टि करनेवाले) सच्चे भोजन में और (शीघ्र ही विनाश को पहुँचा देनेवाले) पापमय भोजन में भेद करो। पाप से सना हुवा हलुवा पूरी खाने की अपेक्षा रूखा-सूखा खाना या भूखा रहना हजारों गुणा श्रेष्ठ है। पहिले तरह का भोजन मौत है; दूसरा अमृत है।

शब्दार्थ—

(अप्रचेताः) दुर्बुद्धि मनुष्य (मोघं) व्यर्थ ही (अन्नं) भोग-सामग्री को (विन्दते) पाता है। (सत्यं ब्रवीमि) सच कहता हूँ कि (स) वह भोग-सामग्री (तस्य) उस मनुष्य के लिये (बध इत्) मृत्यु रूप ही होती है—उसका नाश करनेवाली ही होती है! ऐसा दुर्बुद्धि (न अर्यमणं पुष्यति) न तो यज्ञ द्वारा अर्यमादि देवों की पुष्टि करता है (नो सखायं) और न ही मनुष्य-साथियों की पुष्टि करता है। सचमुच वह (केवलादी) अकेला खाने—भोग करने—वाला मनुष्य (केवलाघो भवति) केवल पाप को ही भोगनेवाला होता है।

* *
*

२६ आषाढ़

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्,द्राघीयांसं अनुपश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा, अन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥

ऋ० १०.११७.५॥

विनय

धन को जाते हुवे कितनी देर लगती है ? व्यापार में घाटा हो जाता है, चोर लुटेरे धन लूट ले जाते हैं, बैंक टूट जाते हैं, घर जल ज़ाता है आदि सैकड़ों प्रकारों से लक्ष्मी मनुष्य को क्षणभर में छोड़कर चली जाती है। वास्तव में लक्ष्मीदेवी बड़ी चंचल है। वह मनुष्य कितना मूर्ख है जो यह समझता है कि बस, यदि मैं दूसरों को धन दान नहीं करूँगा तो और किसी तरह मेरा धन मुझसे जुदा नहीं हो सकेगा। अरे, धन तो जब समय आवेगा तो एक पलभर में तुझे कंगाल बनाकर

कहीं चला जायगा। इसलिये, हे धनी पुरुष ! यदि इस समय तेरे शुभ कर्मों के भोग से तेरे पास धन संपत्ति आई हुई है तो तू इसे यथोचित दान में देने में कभी संकोच मत कर। जीवन-मार्ग को ज़रा विस्तृत दृष्टि से देख और सत्पात्र को दान देने में अपना कल्याण समझ, अपनी कमाई समझ। सच्चा दान करना, सचमुच जगत्पति भगवान् को उधार देना है जो कि बड़े भारी दिव्य सूद के साथ फिर वापिस मिलता है। जो जितना त्याग करता है वह उससे न जाने कितना गुणा अधिक प्रतिफल पाता है; यह ईश्वरीय नियम है। दान तो संसार का महान् सिद्धान्त है। पर इस इतनी साफ़ बात को यदि लोग नहीं समझते हैं तो इसका कारण यह है कि वे मार्ग को दूर तक नहीं देखते हैं। जीवन-मार्ग कितना लम्बा है, यह संसार कितना विस्तृत है और इस संसार में जीवों को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल उन्हें कब का कब मिलता है, यह सब कुछ नहीं दिखाई देता। इसीलिये हमें संसार में चलते हुवे वे अटल नियम भी दिखाई नहीं देते जिनके अनुसार सब मनुष्यों को उनके शुभ, अशुभ कर्मों का फल अवश्यम्भाविततया भोगना पड़ता है। यदि इस संसार की गति को हम ज़रा भी ध्यान के साथ देखें तो पता लगेगा कि धन-सम्पत्ति इतनी अस्थिर है कि यह रथ-चक्र की तरह घूमती फिरती है, आज इसके पास है तो कल दूसरे के पास है। पर हम इतनी क्षुद्र दृष्टिवाले हैं और इसी लिये इस 'आज' में ही इतने ग्रस्त हैं कि हम 'कल' को देखते हुवे भी देखते नहीं हैं ! संसार में लोगों का नित्य धननाश होता हुवा देखते हुवे भी अपने धननाश के समय से एक पल पहिले तक भी हम इस घटना के लिये कभी तैयार नहीं होते

और इसीलिये जरा से धननाश होने पर इतने रोते चीखते भी हैं। यदि हम मार्ग को विस्तृत देखें तो इन धनागमों और धननाशों को अत्यन्त तुच्छ बात समझें। यदि संसार में प्रतिक्षण चलायमान, घूमते हुवे, इस धन-चक्र को देखें, इस बहते हुवे धनप्रवाह को देखें, तो हमें धन जमा करने का ज़रा भी मोह न रहे, किन्तु धन के ठीक उपयोग करने का—उचित व्यय करने का—ही हम ध्यान करें। इसलिये भाई! तुम जीवन-मार्ग को सुदीर्घ देखो, विशालदृष्टि से देखो कि जगत् में जो यह ईश्वरीय धन-चक्र चल रहा है वह उपयोग के लिये ही है, और सत्पात्र में दान देना ही धन का सर्वश्रेष्ठ सदुपयोग है। अब से तेरे पास हे भाई! यदि कोई निस्स्वार्थ सच्चा याचक आवे तो उसे कभी खाली मत भेजना, सामर्थ्य के अनुसार उसे ज़रूर भरपूर कर देना और विशालदृष्टि से देखना कि ऐसा करके तूने अपना ही लाभ किया है, अपना एक आवश्यक स्वाभाविक कर्तव्य करके केवल अपना ही लाभ किया है।

शब्दार्थ—

(तव्यान्) धन से बढ़े हुवे समृद्ध पुरुष को चाहिये कि वह (नाधमानाय) माँगनेवाले सत्पात्र को (पृणीयात् इत्) दान देवे ही; (पन्थां) सुकृत मार्ग को (द्राघीयांसं) दीर्घतम (अनुपश्येत) देखे। इस लम्बे मार्ग में (रायः) धन सम्पत्तियाँ (उ हि) निश्चय से (रथ्याः चक्रा इव) रथ-चक्रों की तरह (आ वर्तन्ते) ऊपर नीचे घूमती रहती हैं, बदलती रहती हैं। और (अन्यं अन्यं उपतिष्ठन्ते) एक को छोड़ कर दूसरे के पास जाती रहती हैं।

* *

*

२७ आषाढ़

अपाम सोमं अमृता अभूम, अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः, किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥

ऋ० ८.४८.३॥

विनय

मैंने अमर करनेवाले ज्ञानामृत का पान कर लिया है, मैं तृप्त हो गया हूँ, अमर हो गया हूँ। अब मैं मृत्यु से पार हो गया हूँ, क्योंकि मैंने देख लिया है कि मैं अजर अमर हूँ, नित्य हूँ, सनातन हूँ, न कभी पैदा हुवा हूँ और न कभी मर सकता हूँ। यह सब मैं ज्ञान के प्रकाश में साफ़ देख रहा हूँ। मैं प्रकाश के राज्य में पहुँचा हुवा हूँ, किसी भ्रम व संशय को स्थान नहीं है। मैं अव मरनेवाला मनुष्य नहीं रहा हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने देवलोक पा लिया है। अब मेरा न कोई मित्र है और न शत्रु है। मेरे लिये संसार में विघ्न बाधा कोई वस्तु नहीं रही है। जो बिचारे अज्ञानी मुझे अपना शत्रु समझते हैं, मुझे सहायता देना रोक कर हानि पहुँचाना चाहते हैं—वे जानते नहीं। उनके किये से भला मेरा क्या बिगड़ सकता है? मुझ परितृप्त निष्काम पुरुष को वे क्या हानि पहुँचा सकते हैं? मुझ अमर को मरणशील मनुष्य की

कौन सी हिंसा, कौन सा वध मार सकता है ? हे मेरे अमृत परमेश्वर ! वे अमृतपन को कुछ भी नहीं जानते। तू उन्हें भी अमृत का ज़रा मज़ा चखा दे, तो वे जान जायँ कि मरणशील मनुष्य कितना तुच्छ है और उसके हाथ में पकड़ा हुवा और भी अधिक क्षणभंगुर हिंसा का हथियार कितना अधिक तुच्छ है ! मनुष्य अपने मर्त्यपन की अवहेलना को अनुभव करने लगे तो वह अमर बनने के लिये, देव बनने के लिये व्याकुल हो उठे। तब मार-काट, हिंसा, द्वेष कहाँ रहे ? तब किसी को बिगाड़ने की ज़रूरत न रहे, सब को बनाना ही काम हो जाय; किसी को मारने, नाश करने की ज़रूरत न रहे, सबको जीवित करने का ही काम रह जाय। अहो, अमर को मारने की इच्छा करने वाले कितना व्यर्थ प्रयास कर रहे हैं ! परितृप्त ज्ञानी देव को नुकसान पहुँचाना चाहनेवाले कितने भ्रम में हैं ! अपनी शक्ति का कितना दुरुपयोग कर रहे हैं ! हे परमेश्वर ! तू उन पर दया कर।

शब्दार्थ—

(सोमं अपाम) मैंने सोम का पान किया है, (अमृताः अभूम) अमर हो गया हूँ। (ज्योतिः अगन्म) प्रकाश पा लिया है। (देवान् अविदाम) देवों को प्राप्त हो गया हूँ, देव हो गया हूँ, मैंने दिव्यता पा ली है, सो अब (नूनं) निश्चय से (अरातिः) शत्रु, दान का अभाव (अस्मान् किं कृणवत्) हमारा क्या करेगा और (मर्त्यस्य धूर्तिः) मरणशील मनुष्य की हिंसा (अमृत) हे अमृत देव ! (किं) मेरा क्या बिगाड़ेगी ?

* *
*

२८ आषाढ़

त्रातारो देवा अधिवोचता नो, मा नःनिद्रा ईशत मोत जल्पिः।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः, सुवीरासो विदथमावदेम ॥

ऋ० ४८.१४॥

विनय

हे प्राकृतिक देवो ! तुम हमसे बात करो। तुम हमारे से इतने स्वाभाविक और नज़दीकी सम्बन्ध में हो जावो कि हम तुम्हारे अभिप्राय को सदा समझते रहें। हे रक्षक देवो ! तुम तो हमारे इतने आत्मीय हो कि यद्यपि हम अप्राकृतिक जीवन बिताते हुवे अपनी हानि करने में कभी कुछ कसर नहीं छोड़ते हैं तो भी तुम्हारी प्रवृत्ति सदा अन्त तक हमारी रक्षा करने की ही रहती है। हमें हानि तभी पहुँचती है जब कि हम तुम्हारी बात अन्त तक नहीं सुनते, तुम्हारे बार बार सावधान करने पर भी हम तुम्हारी चेतावनी को नहीं सुनते। और तुम्हारी ज़ोरदार आवाज़ भी हमें सुनाई इसलिये नहीं देती चूँकि हम तुमसे समस्वर (In tune) नहीं रहते, तुम्हारे यंत्र से अपना यंत्र मिलाय नहीं रखते। पर इस समता में ही सब कुछ है। हम या तो तमोगुण में पड़े रहते हैं या उस से उठते हैं तो रजोगुण हमें अपने चक्र पर चढ़ा लेता है। इन दोनों की समता (सत्व गुण) में हम टिक नहीं सकते। हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि हम अपनी निद्रा को या अपनी

बोलने आदि की क्रिया को अपने काबू में रख सकें। जब 'तम' का वेग आता है तो हम आलस्य में दब जाते हैं और जब 'रज' का वेग आता है तो हम बोलते चले जाते हैं। इस असमता को, हे देवो! अब हमसे हटा दो। अब 'निद्रा' और 'जल्पि' हम पर अपना प्रभुत्व न कर सकें हम अब जब चाहें तभी आराम करें, अपनी निद्रा लेवें और अपने भाषण आदि कर्म पर अपना पूरा संयम रख सकें। इस समता, संयम रख सकने में ही श्रेष्ठ वीरता है,, सुवीरता है। यदि हम ऐसे हो जायेंगे तो, हे देवो! तुम सब देवों के देव उस सोम देव के भी हम प्यारे हो जायँगे। अब हमारी यही इच्छा है कि उस सोम प्रभु के प्यारे होते हुवे और समता में रहनेवाले ऐसे 'सुवीर' होते हुवे ही हम अपना जीवन बितायें। ऐसे तुम्हारे भाई बनकर तुमसे जो कुछ ज्ञान पावें उसे अपने जीवन द्वारा फैलाते रहें—तुमसे जो कुछ सुनें उसे औरों को भी सुनाते रहें। इसलिये, हे देवो ? तुम अब हमें सुनावो, हमसे बात करो।

शब्दार्थ—

(त्रातारः देवाः) हे रक्षक देवो! (नः अधिवोचत) हमसे बात करो, हमें बतावो। (नः निद्रा मा ईशत) हम कभी निद्रा, आलस्य के वशीभूत न होवें और (मा उत जल्पिः) और न ही बकवास, व्यर्थ बोलने की इच्छा हमें दबावे। (वयं विश्वह सोमस्य प्रियासः) हम सदा सोम के प्यारे होते हुवे और (सुवीरासः) श्रेष्ठ वीर होते हुवे (विदथं आवदेम) ज्ञान को फैलाते रहें।

* *

*

२६ आपाद्

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिं इत् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया, तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः ॥
ऋ० १०.३४.१३॥

विनय

बिना परिश्रम किये फल चाहने वाले भाइयो! बिना पसीना बहाये सुख संपत्ति के उम्मीदवारो! तुम बड़े भारी भ्रम में हो। तुम्हारी यह इच्छा इस जगत् के महान् सिद्धान्त के विपरीत है। इस जगत् के स्वामी, सर्वान्तर्यामी प्रेरक प्रभु ने यह बात आज मुझे साफ़ साफ़ दिखला दी है, मेरे अन्तःकरण में इसका प्रकाश हो गया है। पहिले मैंने भी सुख पा लेने के बहुत से छोटे रास्ते (Short cuts) ढूँढ़े, पर आज प्रभु-कृपा से मुझे साक्षात् हो गया है कि बिना स्वयं परिश्रम किये कोई सच्चा सुख नहीं मिल सकता है। यह अटल नियम है। इसलिये आज मैं ऊँचे पर खड़ा होकर सब संसार को कहना चाहता हूँ मनुष्यमात्र को सुना देता हूँ—"हे मनुष्य! तू जुआ मत खेल, तू खेती कर।" आज संसार के मनुष्य नाना तरह से जुआ खेल रहे हैं, भिन्न भिन्न जातियों ने अपने अपने ढंग—सभ्य या असभ्य ढंग—निकाल रखे हैं। पर इन सब ढंगों में दो मूल भूत बात रहती हैं अर्थात् (१) बिना श्रम किये समृद्धि पाने का लोभ और (२) इसके लिये अपने आपको भाग्य की अनिश्चित, संशयित संभावना पर छोड़ देना। इस लोभ और

आलस्य में फँस कर मनुष्य जुए के पाप में पड़ता है। पर लोभ और आलस्य के कारण वैयक्तिक ही नहीं, किन्तु सामाजिक संपत्ति का ह्रास होता है तथा कौटुम्बिक जीवन (जो कि मनुष्य के विकास का साधन है) का नाश होता है। मनुष्यो! तुम्हें संपत्ति का सुख (जिसका कि उपलक्षण 'गावः' है) और कौटुम्बिक सुख (जिसका कि उपलक्षण 'जाया' है) इस कृषि से ही मिलेगा, जुए से नहीं; खुद श्रम करके कमाने से मिलेगा, दूसरे को ठगने द्वारा मिली प्राप्ति से नहीं। इसलिये ऐसी थोड़ी कमाई को ही तू बहुत समझ। ईमानदारी और परिश्रम से कमाया हुवा थोड़ा सा धन भी बहुत है; वह वास्तव में बहुत अधिक है। किसी प्रकार के भी जुए (द्यूत) से रहित सच्ची कमाई का एक एक पैसा एक एक हीरे के बराबर है, उतना ही सुख देनेवाला है। इसलिये, हे प्यारे! तू अपनी शुद्ध कमाई की रूखी-सूखी में अमृत खाने का आनन्द ले और अपनी शुद्ध कमाई के दो पैसों पर ही बादशाह को मात करनेवाले गर्व के साथ सच्चा आनन्द लूट।

शब्दार्थ—

(अक्षैःमा दीव्यः) तू कभी जुआ मत खेल किन्तु (कृषिं इत् कृषस्व) खेती ही का काम परिश्रम पूर्वक कर (वित्ते बहु मन्यमानः) परिश्रम से मिले धन को ही बहुत मानता हुवा उसी में (रमस्व) आनन्दित, प्रसन्न और सन्तुष्ट रह। (कितव) हे जुआ खेलनेवाले! (तत्र) इसी परिश्रम की कमाई में ही (गावः) गौ आदि सब सच्ची संपत्ति हैं और (तत्र जाया) इसी में सब गृहस्थ-सुख हैं। (तत्) यह बात (अयंः अयं सविता) मेरे स्वामी इस प्रेरक प्रभु ने (मे) मुझे (वि चष्टे) अच्छी तरह दिखला दी है।

३० आषाढ़

विधुं दद्राणं समने बहूनां, युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वा, अद्या ममार स ह्यः समान॥

ऋ० १०.५५.५॥ साम० उ० ९.१.७॥ अथर्व० ९.१०.९॥

विनय

हे मनुष्यो ! यह आश्चर्य देखो कि जवान को बुड्ढा निगल जाता है ! उस पराक्रमी जवान को जो कि रणस्थली में बहुतों को मार भगानेवाला है और जो कि बड़े बड़े विविध कर्म करनेवाला है ऐसे जवान को एक न-जाने कब का बुड्ढा, सफ़ेद बालोंवाला बुड्ढा, निगल जाता है। मनुष्यो ! तुमने बेशक बहुत से मनुष्यकृत किताबी और काल्पनिक काव्य पढ़े होंगे, पर आज ज़रा इस जीते-जागते सामने होते हुवे देव के महान् काव्य को भी देखो, ज़रा इस महाकाव्य के भी पन्ने पलटो और पढ़ो जिसमें लिखा है कि "जो अभी कल जी रहा था वह आज मरा पड़ा है।" बस, इस दिव्य महाकाव्य में यही लिखा हुवा है।

भाई ! क्या तुमने उस जवान के निगलनेवाले बुड्ढे को पहिचाना ? क्या तुम अपनी आँखों के सामने इस दिव्य-काव्य को नहीं देख रहे ? क्या देखते हो कि दुनियाँ में रोज़ जो हज़ारों (एक क्षण पहिले तक दूसरों को मार भगाने की शक्ति का गर्व रखते हुवे) आदमी मर रहे हैं, उन्हें कौन निगल रहा है ? यदि नहीं देखते, तो वेद की किताब में यह पढ़ लेने पर कि

आत्मा अपने में प्राणों और इन्द्रियों को रोज़ निगलता है, आदित्य शक्ति 'चन्द्रमस्' को निगलती है और परम बुड्ढा कालरूप परमेश्वर एक दिन इस सब बड़े वेग से क्रियाशील, अगम, महान्, ब्रह्माण्ड को (इस चलते फिरते नौजवान संसार को) भी निगल लेता है, तो यह पढ़ लेने पर भी नहीं देखोगे। यदि तुम्हें यह सहस्रों चतुर्युगियोंवाला कल्पान्त संसार ब्रह्मा का केवल एक दिन नहीं नज़र आता जो कि उसके अगले ही दिन—उसके 'कल' में ही—मरा पड़ा है; और यदि तुम्हें इस जगत् की एक एक घटना इसकी क्षणभंगुरता को नहीं दिखाती, तो तुम्हें वह देव ही एक दिन अपना महत्वशाली काव्य पढ़ावेगा और तुम्हें पदार्थपाठ देवेगा—"कल जो जीता था वह आज मरा पड़ा है ।"

भाई ! देव के इस संसार में आकर यदि हम केवल इस 'अनित्यता' को ही सचमुच जान जाँय, केवल यह पाठ पढ़ लेवें, और अतएव कम से कम अपने बल का, नौजवानी का, कर्म-शक्ति का और दूसरों को मार भगा सकने का घमण्ड छोड़ देवें तो बस, यह पर्याप्त है । तो हमने सब काव्य पढ़ लिये और पढ़ाई का फल पा लिया ।

शब्दार्थ—

(युवानं सन्तं) एक ऐसे नौजवान को (विधुं) जो कि विविध काम करनेवाला है और (समने) रण में (बहूनां) बहुतों को (दद्राणं) मार भगानेवाला है उसे (पलितः) एक बुड्ढा (जगार) निगल जाता है । (देवस्य) देव के (महित्वा) इस बड़े महत्ववाले (काव्यं) काव्य को (पश्य) देख कि (ह्यः सम्+आन) कल जो जी रहा था, साँस ले रहा था, (सः) वही (अद्य) आज (ममार) मरा पड़ा है ।

३१ आषाढ़

माता रुद्राणां दुहिता वसूनां, स्वसादित्यानां अमृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय, मा गां अनागां अदितिं बधिष्ट॥
ऋ॥ ८.१०.१.१५॥

विनय

हे मनुष्य! तू गौ को कभी मत मार। इस निरपराध बिचारी गौ को कभी मत मार। तू चेतनवाला है, तुझे परमात्मा ने कुछ समझ, अक्ल, बुद्धि दी है। इसलिये तुझे कहता हूँ तू गो-घात कभी मत करना। तू ज़रा सा अपनी समझ का उपयोग करेगा तो तुझे पता लग जायगा कि यह गौ यद्यपि बड़ी भोली, बिचारी, बिल्कुल निर्दोष है इसलिये इसे कोई भी कभी मार सकता है, मारने से यह मर जायगी, कोई प्रतिरोध न करेगी; पर साथ ही यह इतनी महत्वशालिनी है,

सब देवों की सम्बन्धिनी और अमरपन का एक केन्द्र है कि इसका मारना अपना नाश करना है, इसका घात करना आत्म-घात है। यह गौ कहीं और नहीं, हमारे ही अन्दर है। यह 'अदिति' आत्म-शक्ति है, वाणी है, अन्तरात्मा की वाणी है, अन्दर की आवाज़ है। इसे तुम दबाओगे तो बेशक यह चुपचाप दब तो जायगी, पर इससे तुम्हारा आत्मा नष्ट हो जायगा। यह 'अदिति' वाणी (यह आदित्यों की बहिन) वसुओं—आत्मा की वासक अग्नियों—से प्रकट होती है (इनकी पुत्री है) और मनुष्य के सब 'रुद्रों'—प्राणों—की और सब चेष्टाओं की माता है। यह ऐसी अमृत वस्तु है कि इसे मारने का यत्न करनेवाला खुद मर जाता है, और इसकी रक्षा करने वाला ही सुरक्षित रहता है। इसी अन्दर की 'गौ' की प्रतिनिधि आधिदैविक में भूमि है, आधिभौतिक में राष्ट्र-देवी है, और पशुओं में गौ माता है। हे चेतनावाले मनुष्य! तू समझ कि इन गौओं का भी घात कितना भयङ्कर परिणाम लानेवाला है। भूमि, राष्ट्र और गौओं की रक्षा करने में ही मनुष्यों की, मनुष्य-जाति की रक्षा है। देखना, इस भूमि-गौ की, इस राष्ट्र-गौ की तथा इस गौ-पशु की ज़रा भी हिंसा करने वाला कर्म्म तुझसे न होवे। जब कभी इन सर्वथा अप्रतिरोधिनी गौओं की हिंसा करने का प्रलोभन आवे तो याद कर लेना कि ये सब अमृत की नाभियाँ हैं और अपने अपने क्षेत्र के आदित्यों, वसु, और रुद्रों से सम्बन्धित दिव्य शक्तियाँ हैं। इनको मार कर तू कभी फल-फूल नहीं सकता। पर अन्त में सब बाह्य गौओं की गौ तो अन्तरात्मा की वाणी है। इस गौ को तो कभी मत छेड़ना, इसे सदा पालना, पोसना और इसकी

आज्ञा को सदा मानना। अपना सर्वस्व स्वाहा करके भी इस गौ की रक्षा करना। इसे ज़रा भी नहीं दबाना। यदि इस अमृतनाभि 'अदिति' गौ का रक्षण, पोषण और वृद्धि होती गई तो तू भी एक दिन अमृत हो जायगा, देवों का राज्य पा जायगा। देखना, इस सर्वथा अप्रतिरोधिनी परम शान्त गौ का तेरे यहाँ ज़रा भी तिरस्कार न होने पावे, इसे ज़रा भी क्षति न पहुँचने पावे।

शब्दार्थ—

मैं (चिकितुषे जनाय) प्रत्येक चेतनावाले मनुष्य को (नु प्रवोचं) कहे देता हूँ कि (अनागां) निरपराध (अदितिं) अहन्तव्या (गां) गौ को (मा बधिष्ट) कभी मत मार, क्योंकि यह (रुद्राणां माता) रुद्र देवों की माता है, (वसूनां दुहिता) वसु देवों की कन्या है और (आदित्यानां स्वसा) आदित्य देवों की बहिन है तथा (अमृतस्य नाभिः) अमरपन का केन्द्र है।

* *
*

३२ आषाढ़

अजीतये अहतये पवस्व, स्वस्तये सर्वतातये बृहते ।
तदुशन्ति विश्व इमे सखायः, तदहं वश्मि पवमान सोम ॥
ऋ० ९. ९६. ४॥

विनय

हम चाहते हैं कि हम अजित रहें, कभी हार न खावें; हम अहत रहें, कभी मारे न जावें; हमारा कल्याण ही होवे, कभी हमारा कोई अकल्याण न होवे। परन्तु इस सब के लिये, हे सोम! हम तुम्हारे रस के भिक्षुक हैं। तुम्हारा रस मिल

जाये तो यह और सब कुछ हमें स्वयमेव मिल जाय। जैसे कि ग्रीष्म के बाद मेघवृष्टि उद्यान व खेत की सब वृक्ष वनस्पतियों को जिस समय सजीव करती है तो उनमें सरसता, उनमें हरियाली, उनमें नवपल्लवों का फूटना, उनमें पुष्प और फल का आना आदि सब कुछ उस एक वर्षारस के पा जाने से हो जाता है; उसी तरह यह संसार रूपी महा उद्यान भी, हे बरसनेवाले सोम तुम्हारा रस पाकर ही नाना तरह से फलता फूलता और जीवित रहा करता है। इस संसारोद्यान का प्रत्येक जीव रूपी वृक्ष तुमसे जीवन पाकर ही नाना प्रकार से आत्म-विकास पा रहा है। हम किसी भी प्रकार की उन्नति चाहें, किसी भी दिशा में आत्म-विकास पाना चाहें, सदा हमें जिस एक वस्तु की ज़रूरत है, वह है तुमसे मिलनेवाला जीवन-रस, सोम-रस। इसलिये, हे पवमान सोम ! संसार के ये सब मेरे मनुष्य-साथी तुमसे यह जीवन-रस माँग रहे हैं—तुमसे यही चाह रहे हैं। मैं तुमसे इसी की माँग मचा रहा हूँ। तो हे सोम ! अब तुम मेरे लिये क्षरित होवो—मेरे इन सब मनुष्य-सखाओं के लिये क्षरित होवो; हमारी अजीति, अहति, स्वस्ति आदि सब कामनाओं को पूरा कर डालने के लिये क्षरित होवो। नहीं नहीं, तुम तो हे अमृत बरसाने वाले ! इस सब चर, अचर, बृहत् संसार के लिये ही अपनी अमृत-वर्षा का दान करो। ऐसा बरसो कि तुम्हारे अमृत से सींचे जाते हुवे इस विशाल ब्रह्माण्ड में सब जीवों, सब प्राणियों की सदा ठीक तरह से सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय ही होता जावे। और इस तरह सब जगत् और प्राणीमात्र का अमृत-सिंचन करते हुवे ही तुम मुझ इस अपने एक तुच्छ प्राणी को भी अपना यह

अमृत-रस प्रदान करो। जरा देखो, यह सब संसार इस अमृत-रस के पाने के लिये कैसा व्याकुल हो रहा है, मैं इस के लिये कैसा तड़प रहा हूँ ?

शब्दार्थ—

(पवमान सोम) हे क्षरित होनेवाले सोम ! (अजीतये) हमारे अजित होने के लिये (अहतये) हमारे अहत रहने के लिये (स्वस्तये) हमारे कल्याण के लिये तथा (बृहते सर्वतातये) इस महान् संसार के सर्वविध सर्वोन्नति व सर्वोदय के लिये (पवस्व) तुम क्षरित होवो। (तत्) इसे ही (इमे विश्वे सखायः) ये सब मनुष्य-साथी (उशन्ति) चाह रहे हैं, माँग रहे हैं और (तत्) इसे ही (अहं) मैं (वश्मि) चाह रहा हूँ—इसके लिये व्याकुल हो रहा हूँ।

* *
*

ध्यान रख

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्

अथर्ववेद २—३०—४

जो तेरे अन्दर हो वही बाहिर

हो और जो बाहिर

हो वही

अन्दर

हो

अनुक्रमणिका

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
अ			
अकामो धीरो अमृतः	अथर्व.	९ आषाढ	२३६
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्	ऋ.	२९ आषाढ	२८८
अग्निमिन्धानो मनसा धियं	ऋ.सा पू.	२२ वैशाख	११४
अग्ने यं यज्ञमध्वरं	ऋ.	३ चैत्र	१२
अजीतये अहतये पवस्व	ऋ.	३२ आषाढ	२९५
अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते	ऋ.	१४ ज्येष्ठ	१७०
अतो विश्वान्यद्भुता	ऋ.	२६ चैत्र	५८
अनुत्तमा ते मघवन्नकिर्नु	ऋ.	२३ ज्येष्ठ	१९०
अनृणा अस्मिन्ननृणाः	अथर्व.	५ आषाढ	२२८
अपाम सोमममृता अभूम	ऋ.	२७ आषाढ	२८४
अपां मध्ये तस्थिवान्सं	ऋ.	१ वैशाख	७२
अप्रतीतो जयति सं धनानि	ऋ.	७ ज्येष्ठ	१५६
अभयं मित्रादभयममित्राद्	अथर्व.	१४ आषाढ	२५१
अभि प्र गोपतिं गिरा	ऋ. सा पू. अ.	२१ वैशाख	११२
अभ्रातृव्यो अनात्वं अनापिः	ऋ. अथ.	१७ वैशाख	१०४
अश्मन्वती रीयते संरभध्वं	य. ऋ. अ.	१ आषाढ	२१६
अहमिद्धि पितुष्परि	ऋ.सा पू.अ.	९ वैशाख	८८
आ			
आ घा गमद्यदि श्रवत्	ऋ.सा उ.अ.	१५ वैशाख	१००
आ त एतु मनः पुनः	ऋ.	१० चैत्र	२६

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
आ ते वत्सो मनो यमत्	ऋ. सा पू.	२३ वैशाख	११६
आ त्वा रम्भं न जिव्रयः	ऋ.	१२ चैत्र	३०
आ हि ष्मा सूनवे पिता	ऋ.	२८ चैत्र	६२
इ			
इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं	ऋ. अथ.	१३ चैत्र	३२
इदमुच्छ्रे यो अवसानमागां	अथर्व.	१३ आषढ़	२४८
इन्द्र आशाभ्यस्परि	ऋ. अथ.	११ चैत्र	२८
इन्द्र इन्नो महोनां	सा उ. ऋ.	२९ वैशाख	१२८
इन्द्रश्च मृडयाति नो	ऋ.	३१ वैशाख	१३२
इन्द्रो अंग महद्भयं	ऋ.	३० वैशाख	१३०
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः	ऋ. अथ.	२६ ज्येष्ठ	१९८
इमं मे वरुण श्रुधि	य.	२४ वैशाख	११८
इयं समित् पृथिवी	अथर्व.	३० ज्येष्ठ	२०६
ई			
ईजानश्चितमारुक्षदग्निं	अथर्व.	११ आषाढ़	२४२
उ			
उत नः सुभगाँअरिर्वोचेयु	ऋ.	७ वैशाख	८४
उत यो द्यामतिसर्पाद्	अथर्व.	३ आषाढ़	२२२
उतेयं भूमि र्वरुणस्य राज्ञः	अथर्व.	१२ आषाढ़	२४५
उद्यानं ते पुरुष नावयानं	अथर्व.	२१ आषाढ़	२६८
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद्	ऋ. य. सा पू. अ.	२२ ज्येष्ठ	१८८
उप त्वाग्ने दिवे दिवे	ऋ. सा पू.	२ चैत्र	१०
उपस्थास्ते अनमीवा	अथर्व.	१६ आषाढ़	२५७

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
उपह्वये सुदुघां धेनुमेतां	ऋ. अथ.	६ ज्येष्ठ	१५४
उरुं नो लोक मनुनेषि विद्वान्	ऋ. अथ.	३ ज्येष्ठ	१४८
ऋ			
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्	ऋ. अथ.	९ ज्येष्ठ	१६०
ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति	ऋ.	४ ज्येष्ठ	१५०
ऋतुं शंसन्त ऋजु दीध्यानाः	ऋ. अथ.	१८ आषाढ़	२६२
क			
कद्रु प्रचेतसे महे वचो	साम पू.	१४ वैशाख	९८
का त उपेति मनसो	ऋ.	१५ ज्येष्ठ	१७२
कालो अश्वो वहति	अथर्व.	१ ज्येष्ठ	१४२
केतुं कृण्वन्नकेतवे	ऋ. सा उ. अ.	२० चैत्र	४६
क्रत्वः समह दीनता	ऋ.	२ वैशाख	७४
ग			
गूहता गुह्यं तमो वि यात	ऋ.	२३ चैत्र	५२
च			
चोदयित्री सूनृतानां	ऋ.	१९ चैत्र	४४
ज			
जीवान्नो अभिधेतन	ऋ.	१४ चैत्र	३४
जुहुरे विचितयन्तः	ऋ.	१३ वैशाख	९६
त			
तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो	ऋ. य. सा उ.	१ चैत्र	८
तमध्वरे ष्वीडते देवं	ऋ.	४ वैशाख	७८
तरत्स मन्दी धावति	ऋ. सा पू.	१५ चैत्र	३६

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
तुंजे तुंजे य उत्तरे स्तोमा	ऋ.अथ.	९ चैत्र	२४
त्रातारो देवा अधिवोचता	ऋ.	२८ आषाढ़	२८६
त्रातारमिन्द्र मवितार	ऋ.य.सा पू.अ.	१९ आषाढ़	२६४
त्वां जना मम सत्येष्विन्द	ऋ. अथ.	२ ज्येष्ठ	१४५
त्वां च सोम नो वशो	ऋ.	२७ चैत्र	६०
त्वं नः सोम विश्वतो रक्षा	ऋ.	२१ चैत्र	४८
द			
दिवो नु मां बृहतो	अथर्व.	६ आषाढ़	२३०
दृते दृंह मा ज्योक् ते	यजु.	२६ वैशाख	१२२
न			
न घेमन्यत् आपपन	ऋ.सा उ.अ.	२७ वैशाख	१२४
न तं विदाथ य इमा जजान	ऋ. यजु.	११ ज्येष्ठ	१६४
न दक्षिणा विचिकिते न	ऋ.	१० ज्येष्ठ	१६२
नयसीद्वति द्विषः	ऋ.	१६ चैत्र	३८
न वा उ सोमो वृजिनं	ऋ. अथ.	२० ज्येष्ठ	१८२
न वि जानामि यदि वेदमस्मि	ऋ. अथ.	२० आषाढ़	२६६
नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिः	ऋ. अथ.	११ वैशाख	९२
निषसाद धृतव्रतो वरुणः	ऋ.	२४ चैत्र	५४
प			
पदं देवस्य नमसा व्यन्तः	ऋ.	५ ज्येष्ठ	१५२
पवमानस्य ते वयं	ऋ.सा उ.	१६ वैशाख	१०२
पृच्छे तदेनो वरुणः	ऋ.	१८ ज्येष्ठ	१७८
पृणीयादिन्नाधमानाय	ऋ.	२६ आषाढ़	२८१

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
प्राग्नये वाचमीरय	ऋ. अथ.	७ चैत्र	२०
प्रियं नो अस्तु विश्पतिः	ऋ.सा उ.	२२ चैत्र	५०.
ब			
बृबदुक्थं हवामहे	ऋ.	१८ चैत्र	४२
भ			
भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम	ऋ.य.सा उ.	१२ ज्येष्ठ	१६८
भद्रमिच्छन्त ऋषयः	अथर्व.	१५ आषाढ़	२५४
म			
महीरस्य प्रणीतयः	ऋ.	६ वैशाख	८२
महो अर्णः सरस्वती	ऋ.	२५ चैत्र	५६
माता रुद्राणां दुहिता वसूनां	ऋ.	३१ आषाढ़	२९२
मा त्वा मूरा अविष्यवो	ऋ.सा उ.अ.	२८ वैशाख	१२६
मा प्रगाम पथो वयं	ऋ.अ.	६ चैत्र	१८
मृत्यो पदं योपयन्तो	ऋ.अथ.	८ ज्येष्ठ	१५८
मोघमन्नं विदन्ते	ऋ.	२५ आषाढ़	२७८
य			
य आत्मदा बलदा यस्य	ऋ.य.अथ.	३१ ज्येष्ठ	२०९
य आपिर्नित्यो वरुण	ऋ.	१९ ज्येष्ठ	१८०
य ईं चकार न सो अस्य वेद	ऋ.अथ.	२१ ज्येष्ठ	१८५
य एक इत्तमुष्टुहि	ऋ.	५ वैशाख	८०
यच्चिद्धि शश्वता तना	ऋ.सा उ.	२९ चैत्र	६४
यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं	अथर्व.	२९ ज्येष्ठ	२०४
यदग्ने स्यामहं त्वं	ऋ.	२० वैशाख	११०
यदचरस्तन्वा वावृधानो	ऋ.	१७ आषाढ़	२६०

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
यद् अंग दाशुषे त्वमग्ने	ऋ.	४ चैत्र	१४
यद्वीडाविन्द्र यत् स्थिरे	ऋ. सा उ. अ.	१९ वैशाख	१०८
यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा	ऋ.	३० चैत्र	६६
यस्तिष्ठति चरति यश्च	अथर्व.	२ आषाढ़	२१९
यस्माद्दते न सिध्यति	ऋ.	३ वैशाख	७६
यस्मान्न ऋते विजयन्ते	ऋ. अथ.	२४ ज्येष्ठ	१९२
यस्मिन्नृचः साम यजूंषि	यजु.	२३ आषाढ़	२७३
या मा लक्ष्मी पतयालूः	अथर्व	८ आषाढ़	२३४
यास्ते शिवा स्तन्वः काम	अथर्व.	१० आषाढ़	२३९
ये ते पवित्र मूर्मयो	ऋ. सा उ.	१८ वैशाख	१०६
ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुः	अथर्व.	२८ ज्येष्ठ	२०२
यो जागार तमृचः कामयन्ते	ऋ. सा उ.	२७ ज्येष्ठ	२००
यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति	ऋ. अथ.	२५ ज्येष्ठ	१९५
र			
रारन्धि नो हृदि गावो	ऋ.	१७ चैत्र	४०
व			
वयं सोम व्रते तव	ऋ.	८ वैशाख	८६
वयःसुपर्णा उपसेदुरिन्द्रं	ऋ. सा पू.	१२ ज्येष्ठ	१६६
विधुं दद्राणं समने बहूनां	ऋ. सा उ. अ.	३० आषाढ़	२९०
वि मे कर्णा पतयतो	ऋ.	१७ ज्येष्ठ	१७६
वृत्रस्य त्वा श्वसथात्	ऋ.	२४ आषाढ़	२७६
श			
शिक्षेयमस्मै दित्सेयं	ऋ. सा उ. अ.	२५ वैशाख	१२०
शिवास्त एका अशिवास्त	अथर्व.	४ आषाढ़	२२५

मन्त्र	वेद	तिथि	संख्या
सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा	अथर्व.	२२ आषाढ़	२७०
सदा व इन्द्रश्चर्कृषत् आ	साम. पू.	१२ वैशाख	९४
स नः पितेव सूनवे	ऋ.	५ चैत्र	१६
समस्य मन्यवे विशो	ऋ.सा पू.अ.	१० वैशाख	९०
सहस्राह्ण्यं वियतावस्य	अथर्व.	७ आषाढ	२३२
सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय	ऋ. अथ.	१६ ज्येष्ठ	१७४
सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो	ऋ.	८ चैत्र	२२

लेखक की अन्य पुस्तकें

तरंगित हृदय

इसमें पं० 'अभय' जी द्वारा स्वतंत्र लिखे २१ निबंध हैं जिन्हें पढ़कर आपका हृदय आनन्ददायक और शुद्ध उदात्त भावों की तरंगों से नहा जायगा। कई लोग इसका नित्य स्वाध्याय करते हैं। मराठी और गुजराती में भी अनुवाद हुवे हैं। मू०॥)

मिलने का पता—सस्ता साहित्य मंडल अजमेर।

वैदिक उपदेशमाला

बारह महीनों के लिये बारह वैदिक उपदेश पढ़िये और जीवन उन्नत कीजिये। मूल्य ॥)

मिलने का पता—स्वाध्यायमण्डल, औंध, ज़िला सातारा।

यज्ञ संस्था (द्वितीयभाग)

यज्ञ की यह व्याख्या अद्वितीय है। यज्ञ का सच्चा आशय पालेना चाहने वालों को इसे बिना पढ़े नहीं रहना चाहिये। मू०१)

मिलने का पता—स्वाध्यायमंडल, औंध, ज़िला सातारा।

ब्राह्मण की गौ

राष्ट्रीय जागृति के इन दिनों में इस वैदिक सूक्त की व्याख्या एकबार प्रत्येक व्यक्ति को अवश्य पढ़ लेनी चाहिये। (इस का भी कई प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद होरहा है) मू०॥)

मिलने का पता—गुरुकुल कांगड़ी जि० सहारनपुर।

त्याग की भावना

[ले०—श्री पं० धर्मदेवजी वेदवाचस्पति]

इसका विषय नाम से स्पष्ट है। लेखक ने बड़ी योग्यता से इस विषय को प्रतिपादित किया है। इसमें दो वैदिक सूक्तों की व्याख्या की गई है। मूल्य केवल ॥)

आचार्य रामदेव जी कृत

भारतवर्ष का इतिहास

इसकी उपादेयता आर्यजगत् में प्रसिद्ध हो चुकी है। प्रथम खण्ड का मूल्य १॥) द्वितीय खण्ड का मूल्य १॥)

योगेश्वर कृष्ण

श्री पं० चमूपति जी की लेखनी से यह नयी पुस्तक लिखी गयी है। कृष्ण भगवान् की सच्ची जीवनी इस पुस्तक में पढ़िये।

इण्डियन प्रेस, प्रयाग से बड़ी सुन्दर छपी इस सजिल्द पुस्तक का मूल्य २) है।

मिलने का पता—

गुरुकुल-पुस्तक-भण्डार
गुरुकुल कांगड़ी
(सहारनपुर)

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी में इस कुल के पिता, अमरकीर्त्ति स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की पुण्यस्मृति में एक 'श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि' स्थापित हुई है। जो सज्जन चाहें वे इन श्रद्धेय स्वामीजी की स्मृति में इस कुल को प्रतिवर्ष दस या इससे अधिक रुपये देने का प्रतिज्ञापत्र भर कर इसके सभासद् बन सकते हैं। अभी तक ऐसे सभासदों का हमारा परिवार लगभग पाँच सौ सज्जनों का बन चुका है। इन्हीं सज्जनों को प्रतिवर्ष गुरुकुलोत्सव पर भेंट करने के लिये यह 'स्वाध्यायमञ्जरी' गुरुकुल से प्रकाशित की जाती है।